ॐ

मेरु नित्यानंद.

राज-रत्न चिन्तामणि

कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी के विविध वचनामृतों पर
उपलब्ध पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
के संकलित अप्रकाशित प्रवचन

: संकलन - हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत	वीर संवत	ई. सन
2077	2548	2021

—: प्रकाशन :—

भगवत कुन्दकुन्दाचार्यदेव की साधनास्थली पौन्नूर हिल
में स्थापित जिनमन्दिर के वार्षिकोत्सव के उपलक्ष्य में
दिनांक 26 दिसम्बर से 31 दिसम्बर 2021

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर,** अलीगढ़।

प्रकाशकीय

भारत की पावन वसुन्धरा अनादि से ही महापुरुषों की जन्मदात्री रही है। इसी भारतभूमि पर अनादि काल से तीर्थंकर भगवन्त भावलिंगी आचार्य भगवन्त एवं मुनि भगवन्त अपनी आत्मसाधना पूर्ण कर मुक्ति को प्राप्त होते रहे हैं। ज्ञानी धर्मात्माओं की सुदीर्घकालीन परम्परा में अनेक गृहस्थ ज्ञानी धर्मात्मा भी हुए हैं। जिन्होंने वीतरागी परमात्माओं एवं भावलिंगी सन्तों के पथ का अनुसरण करते हुए शुद्ध चैतन्य की अनुभूतिपूर्वक मोक्षमार्ग का उद्घाटन अपनी परिणति में किया, साथ ही अपनी लेखनी एवं प्रवचनधारा से जगत के अज्ञानी जीवों के लिए परम उपकारक हुए।

ज्ञानी धर्मात्माओं की इसी परम्परा में विक्रम संवत् 1924, कार्तिक शुक्ल 15 (दिनांक 10-11-1867) में गुजरात प्रान्त के ववाणिया गाँव में एक बाल महात्मा श्रीमद् राजचन्द्रजी का जन्म हुआ, जिन्होंने अपनी सातिशय प्रज्ञा एवं विशिष्ट क्षयोपशम के साथ-साथ आत्मोपलब्धि प्राप्त कर वीतरागी जिनशासन का उद्योत किया। श्रीमद्जी की शैली मुख्यरूप से पत्रात्मक रही है। उन्होंने उनके निकटवर्ती साधर्मीजनों के प्रश्नों के उत्तरस्वरूप अथवा निष्कारण करुणास्वरूप पत्र लिखकर जो तत्त्वबोध प्रदान किया, वह 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थ में उपलब्ध है। साथ ही सोलह वर्ष की लघुवय में भावनाबोध और मोक्षमाला जैसा लोकोपकारक ग्रन्थ रचकर कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी ने मुमुक्षु जगत पर परम उपकार किया है। आत्मसिद्धि एवं अपूर्व अवसर काव्यसहित अनेक काव्य रचनाएँ उनके कवि हृदय का प्रस्फुटन है, जिसमें अति अल्प शब्दों में गम्भीर अर्थ भरे हुए हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि श्रीमद् के अनुयायी मात्र जैन धर्मावलम्बी ही नहीं, अपितु उनसे प्रभावित होनेवाले जिज्ञासु जन अनेकों सम्प्रदाय के हैं, जो उनसे प्रभावित हुए और तत्त्वज्ञान का अवगाहन किया। भारत के राष्ट्रपिता मोहनदास करमचन्द गाँधी (महात्मा गाँधी) ने श्रीमद् को अपना गुरु स्वीकार करते हुए उनके प्रति अहो भाव व्यक्त किये हैं एवं अपनी धर्मसम्बन्धी जिज्ञासाओं का सहज समाधान श्रीमद्जी से प्राप्त किया है। वे पत्र भी 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थ में उपलब्ध हैं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी के गूढ़-गम्भीर अर्थ की सम्यक् विवेचना प्रस्तुत कर इस युग में उनके अन्तःस्थल का मर्म प्रकाशित करनेवाले अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी हुए हैं, जिन्होंने श्रीमद्जी द्वारा रचित आत्मसिद्धि, अपूर्व अवसर काव्यों पर प्रवचन कर श्रीमद् के अन्तर अभिप्राय को जगत के समक्ष प्रस्तुत किया है। निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि यदि गुरुदेवश्री श्रीमद् के अन्तरभाव का स्पष्टीकरण नहीं करते तो मुमुक्षुजन उनके गहरे अभिप्राय से अनभिज्ञ ही रहते। पूज्य गुरुदेवश्री के आत्मसिद्धि एवं अपूर्व अवसर काव्य पर प्रवचन तो हिन्दी एवं गुजराती भाषा में अनेकों बार प्रकाशित हुए हैं, किन्तु उनके कतिपय पत्रों पर भी गुरुदेवश्री के प्रवचन उपलब्ध हैं, जो गुजराती आत्मधर्मों के प्राचीन अंकों में सुरक्षित हैं, इसी तरह श्रीमद्जी के समाधिधाम में हुआ विशिष्ट प्रवचन 'अनेकान्त का रहस्य' पुस्तकाकाररूप गुजराती भाषा में प्रकाशित है।

पूज्य गुरुदेवश्री के अनेक प्रवचनों में श्रीमद् के विविध वाक्यांशों को लेकर उनका हार्द स्पष्ट करते हुए श्रीमद्जी के प्रति अहो भाव व्यक्त हुए हैं। यद्यपि उनकी लिस्ट लम्बी है, तथापि प्रस्तुत संस्करण में समयसार परमागम पर अठारहवीं बार हुए गुरुदेवश्री के प्रवचन ग्रन्थ 'प्रवचन रत्नाकर, भाग 1 से 11' तक में उपलब्ध उद्गारों का समायोजन इस ग्रन्थ में किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन से तत्त्वचर्चा के दौरान श्रीमद्जी से सम्बन्धित प्रश्नोत्तरों को परिशिष्ट में रखा गया है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि समयसार युगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का जीवन जिस परमागम समयसार को उपलब्ध कर परिवर्तित हुआ और उन्होंने कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा वर्तमान में प्रवाहित मूल दिगम्बर धर्म / दर्शन को अंगीकार किया, उस समयसार के प्रकाशनकर्ता भी श्रीमद् राजचन्द्र ही हैं, क्योंकि उनके द्वारा संस्थापित परमश्रुत प्रभावक मण्डल से विक्रम संवत् 1975 में प्रकाशित समयसार की प्रति ही विक्रम संवत् 1978 में पूज्य गुरुदेवश्री को प्राप्त हुई थी, जिसे पाकर उनके सहज उद्गार प्रस्फुटित हुए थे कि 'यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' तदर्थ पूज्य गुरुदेवश्री, श्रीमद् के प्रति भी इस सन्दर्भ में विशेष अहो भाव व्यक्त करते थे। पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा अभिव्यक्त अहो भाव के कुछ वचन इस ग्रन्थ में संकलित किये गये हैं।

श्रीमद् राजचन्द्र से सम्बन्धित एक विशालकाय ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना के प्रथम चरण

के रूप में प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ 'राज-रत्न चिन्तामणि' प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रन्थ में समागत प्रवचनों, उद्‌गारों एवं बहिनश्री की तत्त्वचर्चा आदि का संकलन, हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राजस्थान) द्वारा किया गया है। जिसमें उन्हें श्री निखिलभाई मेहता, मुम्बई का भी विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है। तदर्थ हम सभी के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का टाईपिंग एवं डिजाइन कार्य श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर, अलीगढ़ द्वारा किया गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा उद्‌घाटित श्रीमद् के वचनामृतों का रहस्य समझकर सभी जीव आत्मकल्याण के सन्मुख हों और निजहित साधन में तत्पर हों, इसी भावना के साथ विराम लेते हैं।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ www.vitragvani.com में शास्त्र भण्डार के अन्तर्गत पूज्य गुरुदेवश्री के संकलित प्रवचनों में उपलब्ध है। इसे वीतरागवाणी एप्प पर भी प्राप्त किया जा सकता है।

निवेदक

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विलेपार्ला, मुम्बई

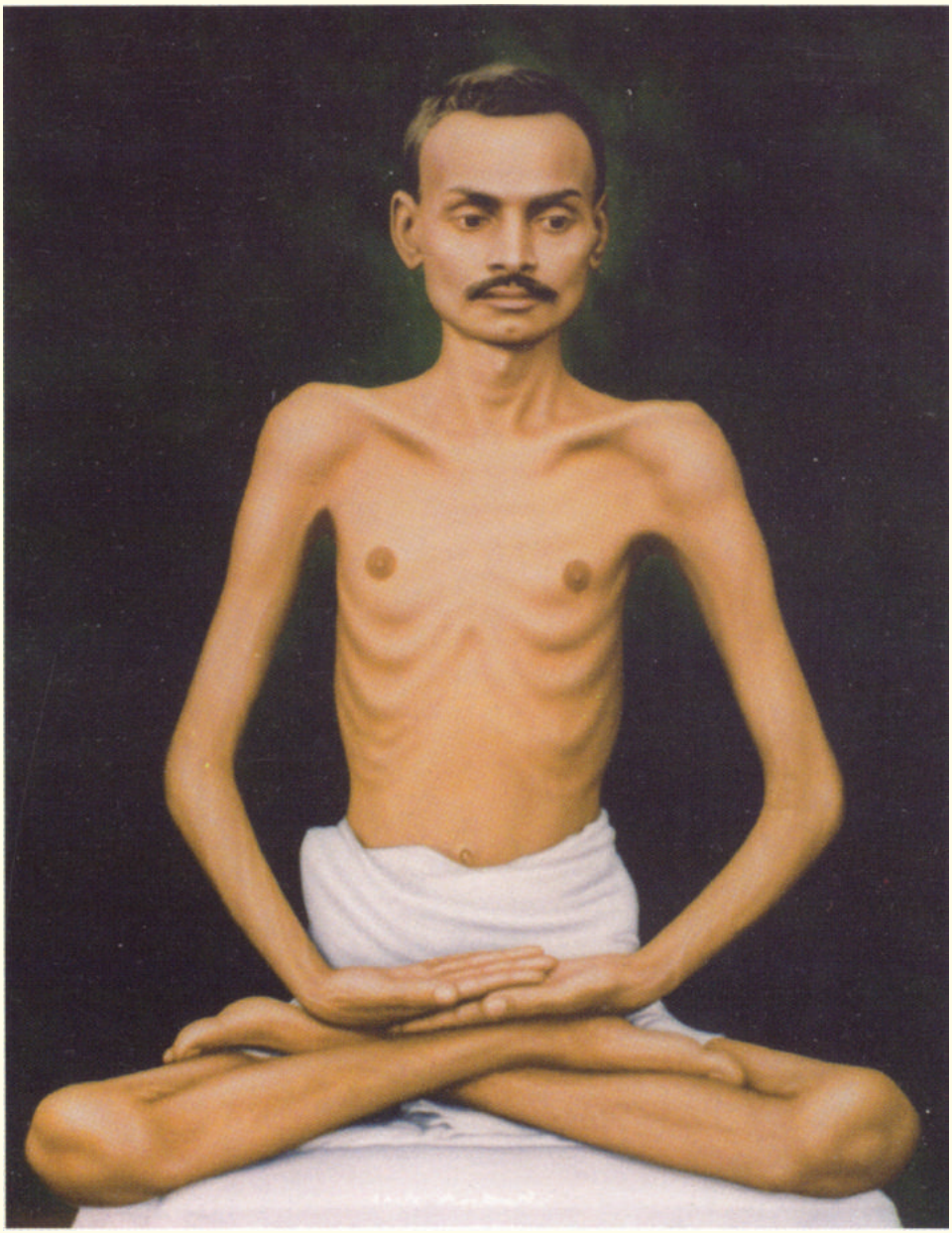

श्रीमद् राजचन्द्रजी

श्रीमद् राजचन्द्रजी : संक्षिप्त जीवन परिचय

जन्म तथा बाल्यावस्था

महान तत्त्वज्ञानियों की परम्परारूप इस भारतभूमि में गुजरात प्रदेश में सौराष्ट्र के ववाणिया ग्राम में विक्रम संवत् 1924, कार्तिक शुक्ल 15 (दिनांक 10-11-1867) रविवार के शुभ दिन, रात के दो बजे श्रीमद् राजचन्द्र का जन्म हुआ था। दशाश्रीमाली बनिया जाति में जन्म लेनेवाले श्रीमद् के पिता का नाम पंचाणभाई और माता का नाम देवबाई था। श्रीमद्जी बचपन में 'लक्ष्मीनन्दन', बाद में 'रायचन्द' और उसके बाद 'श्रीमद् राजचन्द्र' के रूप में प्रसिद्ध हुए।

श्रीमद्जी को बहुत छोटी आयु से ही आत्मिकसुख की तीव्र भावना थी और स्मरणशक्ति भी बहुत तेज थी। इनके पिताजी कृष्ण के भक्त थे, किन्तु माताजी को जैनधर्म के संस्कार थे; इसलिए घर में 'प्रतिक्रमण सूत्र' आदि की पुस्तकें पढ़ने मिलीं और जैनधर्म के प्रति प्रीति बढ़ने लगी। परिवार में दादाजी, माता-पिता, छोटे भाई मनसुखभाई और चार बहनें थीं।

जातिस्मरणज्ञान

श्रीमद्जी की सात वर्ष की आयु थी, तब एक प्रसंग बना। ववाणिया में अमीचन्द नाम के एक गृहस्थ रहते थे। उन्हें श्रीमद्जी से विशेष प्रेम था। एक दिन सर्प के काटने से उनकी मृत्यु हो गयी। यह बात सुनते ही श्रीमद्जी ने अपने दादा से पूछा कि 'मरण' का क्या मतलब होता है? दादाजी को लगा कि मरण की बात करने से बालक को डर लगेगा, इसलिए उन्होंने बात को टाल दिया, परन्तु श्रीमद्जी ने 'मरण' शब्द पहली बार सुना था, इसलिए उन्होंने बार-बार इसका अर्थ पूछा। तब दादाजी ने कहा कि अमीचन्द मर गये, इसका अर्थ यह है कि शरीर में से जीव निकल गया, अब उनका शरीर हलन-चलन नहीं कर सकेगा। इसलिए शरीर को तालाब के पास ले जाकर जला देंगे।

श्रीमद् ने तालाब के पास बबूल के पेड़ पर चढ़कर देखा तो दूर अमीचन्द का शरीर जलता हुआ दिखाई दिया और बहुत सारे लोग उसे घेरकर खड़े हुए थे। यह देखकर उन्हें विचार आया कि अरे! मनुष्य को जलाने में कितनी क्रूरता! यह विचार आते-आते उनका आवरण दूर हो गया और उन्हें पूर्व जन्म का जातिस्मरणज्ञान हो गया। उसके बाद जूनागढ़ का किला देखने के लिये गये, तब जातिस्मरणज्ञान में विशेष वृद्धि हुई।

छोटी उम्र का पुरुषार्थ

श्रीमद्जी ने विद्यालय में विशेष पढ़ाई नहीं की थी, तो भी वे संस्कृत, प्राकृत और अन्य भाषाओं के जानकार थे। छोटी उम्र में ही उन्हें तत्त्वज्ञान का बोध हो गया था। यह एक काव्य से स्पष्ट होता है—

लघुवय थी अद्भुत थयो, तत्त्वज्ञान नो बोध;
ऐ ज सूचवे एम के, गति-अगति कां शोध?
जे संस्कार थवो घटे, अति अभ्यासो कांय
विना परिश्रम ते थयो, भवशंका शी त्यांय?

श्रीमद्जी बाल्यावस्था से ही आत्मा के अमरत्व और क्षणिकत्व के सम्बन्ध में बहुत तार्किक बुद्धि से विचार करते थे। उन्होंने जैनधर्म को कुल परम्परा से स्वीकार नहीं किया था, अपितु अपने तर्क बल से बाल्यावस्था में ही सत्यपने का निर्णय किया था। उन्होंने जैनधर्म के सिद्धान्तों को जीवन में अपनाया था और उसके बाद ही मुमुक्षुओं को अनुसरण का उपदेश देते थे।

अवधान प्रयोग

श्रीमद्जी की स्मरणशक्ति अद्भुत थी। उन्होंने छोटी आयु में ही अवधान प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया और धीरे-धीरे सौ अवधान तक पहुँच गये। विक्रम संवत् 1943 में 19 वर्ष की आयु में मुम्बई में शतावधान प्रयोग प्रतिष्ठित गृहस्थों और हाईकोर्ट के न्यायाधीश की उपस्थिति में किया, तब सभी देखनेवाले आश्चर्यचकित रह गये। अवधान सम्बन्धी समाचार 24-01-1887 के 'टाइम्स ऑफ इण्डिया', 'मुम्बई समाचार', जामे जमशेद 'गुजराती पायोनियर' आदि समाचार-पत्रों में सविस्तार प्रकाशित हुए थे। मुख्य न्यायाधीश सर चार्ल्स सारजंट ने उन्हें विदेश जाकर यह प्रयोग करने का आमन्त्रण दिया, परन्तु श्रीमद्जी को यश अथवा धन की बिल्कुल इच्छा नहीं थी। इतना ही नहीं, परन्तु यह प्रयोग आत्मकल्याण में बाधक है—ऐसा अनुभव होने पर उसके बाद उन्होंने यह प्रयोग कभी नहीं किया।

उनकी स्पर्शन शक्ति भी अत्यन्त विलक्षण थी और ज्योतिष विद्या में भी वे पारंगत थे।

गृहस्थाश्रम

विक्रम संवत् 1944 महा शुक्ला 12 के दिन 19 वर्ष की आयु में पोपटलाल जवेरी की सुपुत्री झबकबेन के साथ उनका विवाह हुआ। पूर्व कर्म का उदय समझकर श्रीमद्जी ने विवाह

किया, परन्तु उनकी उदासीनता और वैराग्य बढ़ते ही गये। वे स्पष्टरूप से मानते थे कि **'कुटुम्बरूपी कोठरी में रहने से संसार बढ़ता है और एकान्त में रहने से जितने संसार का क्षय हो सकता है, उसका शतांश भी कुटुम्ब में रहने से नहीं हो सकता।'** इस विषय में एक मुमुक्षु को पत्र में लिखा है कि—**'जिसे संसार से स्पष्ट प्रेम करने की इच्छा है, उसने ज्ञानी के वचन सुने ही नहीं अथवा ज्ञानी के दर्शन भी किये ही नहीं-ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।'**

श्रीमद्जी की चार सन्तान हुई—छगनभाई, जवलबेन, काशीबेन और रतिलाल।

सफल व्यापारी

सज्जन व्यापारीपना और धर्मसाधना का योग शायद ही देखने में आता है। श्रीमद्जी का जवाहरात का व्यापार होने पर भी दुकान में कोई न कोई धार्मिक पुस्तक और उसकी नोट-बुक सदा साथ रहती थी। व्यापार की बात पूरी होते ही वे शास्त्र पढ़ने बैठ जाते थे अथवा कई विचार अपनी नोट-बुक में लिख लेते थे। जिज्ञासु / मुमुक्षुओं को लिखे खत के अलावा जो उनके लेखों का प्रकाशन हुआ है, उसमें से अधिकांश भाग नोट-बुक में से लिये गये हैं।

श्रीमद्जी विश्वासपात्र व्यापारी के रूप में प्रसिद्ध थे और उनका व्यवहार भी बहुत ही प्रामाणिक था। वे बहुत सन्तोषी थे। धन या हीरे को वे कंकर ही समझते थे। उनकी सज्जनता के कई उदाहरण हैं। जैसे कि एक अरब के व्यापारी को नुकसान न हो, इसलिए व्यापारिक समझौते को रद् कर दिया। दूसरे एक प्रसंग में एक व्यापारी को हीरा के सौदे में कीमत बहुत बढ़ जाने से बहुत ही नुकसान हो रहा था, तभी उन्होंने सौदे का कागज ही फाड़ते हुए कहा कि : **'राजचन्द्र दूध पी सकता है, खून नहीं।'**

कवि-लेखक

श्रीमद्जी में अपने विचारों की अभिव्यक्ति पद्य में करने की सहज क्षमता थी। उनकी मुख्य आध्यात्मिक काव्य रचनाओं में—वैराग्यबोधिनी बारह भावना, तृष्ण की विचित्रता, अमूल्य तत्त्वविचार (17 वर्ष), मूलमार्ग रहस्य (21 वर्ष), जिनवाणी स्तुति, भक्ति के 20 दोहे (24 वर्ष), *आत्मसिद्धि शास्त्र (29 वर्ष), परमपद प्राप्ति की भावना—अपूर्व अवसर (30 वर्ष) आदि प्रमुख हैं।

*** उक्त आत्मसिद्धि शास्त्र एवं अपूर्व अवसर काव्य पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन हिन्दी एवं गुजराती में उपलब्ध हैं, जो प्रत्येक आत्मार्थी को पठनीय हैं।**

142 दोहे रूप अलौकिक 'आत्मसिद्धि शास्त्र' की रचना श्री सौभाग्यभाई के कहने पर और सभी मुमुक्षुओं के सद्भाग्य से आसो कृष्णा 1, विक्रम संवत् 1942, नडियाद में मात्र डेढ़ घण्टे में पूर्ण की थी। उसमें आत्मा की सिद्धि का मार्ग उन्होंने दर्शाया है। 'आत्मा है, वह नित्य है, वह कर्ता है, वह भोक्ता है, मोक्ष है और मोक्ष का उपाय है—इन छह पद की श्रद्धा यदि ज्ञानीपुरुष के अभिप्राय से जीव करे, अर्थात् ज्ञानीपुरुष जिसे 'यथार्थ श्रद्धा' के रूप में स्वीकार करें—ऐसी सर्व ओर से अविरुद्ध श्रद्धा करे तो सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके परद्रव्य और परभावों से भिन्नता का अनुभव करके, इष्ट-अनिष्ट वृत्तियों से विराम लेकर, सर्व दु:खों से मुक्त हो'—यह आत्मसिद्धि शास्त्र का तात्पर्य है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने राजकोट में विक्रम संवत् 1995 में आत्मसिद्धि शास्त्र पर अपूर्व प्रवचन किये थे, जो कि पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए हैं। मुमुक्षुओं को लिखे हुए उनके पत्र बहुत ही गहराई और रहस्यों से भरे हुए हैं। श्रीमद्जी ने अन्यमत का निराकरण भी सुन्दर और स्पष्टरूप से किया है। महात्मा गाँधी ने भी दक्षिण अफ्रीका से श्रीमद्जी के साथ पत्र व्यवहार करके बहुत स्पष्टीकरण प्राप्त किया था।

एकान्त चर्या

मोहमयी मुम्बई नगरी में रहते हुए भी श्रीमद्जी की ज्ञानाराधना निरन्तर चल रही थी। क्योंकि यह उनका मुख्य और अनिवार्य कार्य था। उद्यमरत जीवन में शान्त और स्वस्थ चित्त से एकान्त में आत्माराधना करना उनके लिये सहज हो गया था। किन्तु समय मिलते ही वे जंगल या पर्वतों के एकान्त स्थानों में पहुँच जाते थे। गुजरात के चरोतर, ईडर आदि अनेक क्षेत्रों में उनका विचरण हुआ था।

वीतराग वाणी का आदर

श्रीमद्जी को वीतराग देव-शास्त्र-गुरु के प्रति बहुत आदर था। जिनेश्वर की वाणी की महिमा करते हुए श्रीमद्जी लिखते हैं—

अनन्त भव भेदथी भरेली भली,
अनन्त अनन्त नयनिक्षेपे व्याख्यानी छे।
सकल जगत हितकारिणी, हारिणी मोह,
तारिणी भवाब्धि, मोक्षचारिणी प्रमाणी छे॥
ऊपमा आप्यानी जेने तमा राखवी ते व्यर्थ,
आपवाथी निज मति मपाई मैं मानी छे।

अहो राजचन्द्र! बाल ख्याल नथी पामता ए,
जिनेश्वरतणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे॥

श्रीमद् राजचन्द्रजी दिगम्बर सन्तों को नमस्कार करते हुए लिखते हैं कि '**हे कुन्दकुन्द आचार्य! आपके वचन भी स्वरूप के अनुसन्धान के विषय में इस पामर को उपकारभूत हुए हैं। इसके लिए मैं आपको अतिशय भक्ति से नमस्कार करता हूँ।**' इस तरह गुणों का बहुमान, सत्कार और विनय किया है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा

श्रीमद्जी को शुद्ध सम्यग्दर्शन की प्राप्ति विक्रम संवत् 1947 में 24 वर्ष की आयु में हुई। अपनी ही 'हाथनोंध' में लिखते हैं—

ओगणीससे ने सेडतालीसे समकित शुद्ध, प्रकाश्यूँ रे;
श्रुत अनुभव वधती दशा, निज स्वरूप अवभास्यूँ रे।
धन्य रे दिवस आ अहो!

विक्रम संवत् 1996, कार्तिक शुक्ला 15 को एकावतारी पवित्र पुरुष श्रीमद्जी की जन्म जयन्ती के प्रसंग पर बहुमानपूर्वक भावांजलि देते हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने ये शब्द कहे थे—'**तीर्थंकर भगवन्त का देह परम औदारिक, स्फटिक रत्न जैसी हो जाती है और पास से दर्शन करनेवाले को जातिस्मरणज्ञान हो जाता है एवं उसके सात भव दिखाई देते हैं। ऐसे प्रभु का जन्म दिन महाकल्याणक कहलाता है। 'जो तीन लोक के नाथ' ऐसे पद के धारक हैं, उनका परम कल्याणक जन्मोत्सव इन्द्र मनाते हैं और तीन लोक में खुशहाली छा जाती है। दो घड़ी के लिये नरक के दुःखी जीवों को भी शान्ति का अनुभव होता है। उसी प्रकार जिसने यह पंचम काल में सत्य को प्रसिद्ध किया और अपने अनन्त भवों का अन्त करके एक ही भव बाकी रहे—ऐसी पवित्र दशा अपने आत्मा में प्रगट की—ऐसे पवित्र पुरुष का अधिक से अधिक बहुमान होना चाहिए। उनके जन्म दिवस की आज जयन्ती है। धन्य हैं उन्हें! मैं निश्चितरूप से कहता हूँ कि गुजरात-काठियावाड़ में (सौराष्ट्र में) वर्तमान काल में मुमुक्षु जीवों का कोई परम उपकारी है तो वे श्रीमद् राजचन्द्र हैं। उन्होंने गुजराती भाषा में आत्मसिद्धि लिखकर जैन शासन की शोभा बढ़ाई है। इस काल में उनके जैसा महान पुरुष मैंने नहीं देखा। 'उनके एक-एक वचन में गहरा रहस्य है। यह सत्समागम के बिना समझ में नहीं आ सकता। उन्होंने एक ही मुख्य बात कही है कि आत्मा की पहचान किये बिना कुछ भी करो परन्तु भव नहीं कम हो सकते। आत्मा को समझे बिना किसी काल में भी छुटकारा नहीं। आज, कल, लाख, करोड़ वर्ष बाद भी या कभी भी यह तत्त्व समझे—श्रद्धा करे तो ही छुटकारा**

है। श्रीमद्जी का जीवन समझने के लिये मताग्रह-दुराग्रह से दूर रहकर वह पवित्र जीवन को मध्यस्थपने देखना चाहिए, ज्ञानी की विशाल दृष्टि के न्याय से विचार करना चाहिए। उनकी भाषा में अपूर्व भाव भरा है। उसमें वैराग्य, उपशम, विवेक, सत्समागम—सब कुछ है। वे बालक से लेकर आध्यात्मिक सत्स्वरूप की पराकाष्ठा तक पहुँचे थे। गहरे से गहरा न्याय व गम्भीर अर्थ उनकी लेखनी में है। व्यवहार नीति से लेकर पूर्ण शुद्धता-केवलज्ञान तक का कथन उसमें है। कोई ज्ञानबल के अपूर्व योग से यह लिखा गया है। उनके हृदय में वीतराग शासन की प्रभावना हो, सनातन जैनधर्म जयवन्त वर्ते, ऐसे निमित्त होने की गहराई में भावना थी; पर उस समय मताग्रही लोगों का समूह अधिक था और गृहस्थ वेश होने से उनके पास जाने में और परमार्थ प्राप्त करने में बाह्य दृष्टिवाले जीवों को अपने पक्ष का आग्रह विघ्नरूप हुआ था।

श्रीमद्जी को उस समय के द्रव्य, क्षेत्र, काल की जानकारी थी, इसलिए प्रसिद्धि में नहीं आये। उन्होंने कहा कि मेरा लेखन, मेरा शास्त्र मध्यस्थ पुरुष ही समझ सकते हैं, विचार कर सकते हैं। महावीर के कोई एक भी वाक्य को यथार्थरूप से समझो। शुद्ध अन्तःकरण के बिना वीतराग के वचनों को कौन स्वीकार करेगा ? यह सब अन्तर के उद्गार थे।

वर्तमान में श्री समयसारजी परमागम शास्त्र पर प्रवचन हो रहे हैं, उसकी प्रभावना करनेवाले भी श्रीमद् राजचन्द्र थे। अपनी उपस्थिति में ही उन्होंने 'परमश्रुत प्रभावक मण्डल' की स्थापना की थी। उनका उद्देश्य महान आचार्यों के आगम शास्त्रों को संशोधित करके प्रकाशित करनेवाने का था। उस मण्डल के 19 वर्ष पहले आचार्यवर कुन्दकुन्द भगवान द्वारा रचित महासूत्र समयसारजी शास्त्र की एक हजार प्रतियाँ प्रकाशित की थीं। वह शास्त्र (हाथ से लिखा हुआ) जब उनके हाथ में (लींबडी में) पहली बार आया तब दो पृष्ठ पढ़ते ही रुपयों से भरी हुई थाली मँगाई। जैसे नजर में हीरा आने पर जौहरी उसकी परीक्षा करता है, वैसे ही पूरे जिनशासन का रहस्य श्री समयसार हाथ में आते ही पूर्व के संस्कार के अपूर्व भाव जाग उठे और वह अपूर्व परमागम शास्त्र लानेवाले भाई को श्रीमद्जी ने दोनों हाथ भरकर रुपया दे दिया। इस पुस्तक को प्रकाशित करने की उनकी अतीव भावना थी। इस तरह 19 वर्ष पूर्व श्री समयसार की प्रभावना उनके निमित्त से हुई। वर्तमान में काठियावाड़ में इस परमागम का भलीभाँति लाभ लिया जा रहा है।

इस समयसार के रचयिता श्री कुन्दकुन्द आचार्य महासमर्थ दिगम्बर मुनि थे। वे इस काल में स्वयं महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान सीमन्धर प्रभु के पास गये थे। वहाँ उन्होंने आठ दिन तक समवसरण में भगवान की वाणी सुनी थी। वहाँ से आकर समयसार की श्लोकबद्ध रचना की। उसी समयसार शास्त्र की वर्तमान काल में सर्व प्रथम प्रसिद्धि करनेवाले श्रीमद् राजचन्द्र हैं। इसलिए उनका अनन्त उपकार है। समयसार का लाभ अभी अनेक भाई-

बहिन ले रहे हैं, यह श्रीमद् का ही उपकार है। अभी समयसार की दो हजार प्रतियाँ गुजराती में छप रही हैं। इसका लाभ लेनेवालों को भी श्रीमद् उपकारी हैं।

अन्तिम समय

विक्रम संवत् 1956में श्रीमद्जी ने सर्व व्यवहार से निवृत्ति लेकर सर्वसंग परित्यागरूप दीक्षा लेने के लिये माता के पास अनुमति भी ले ली थी परन्तु उनकी शारीरिक अवस्था दिन-प्रतिदिन बिगड़ती गयी। अनेक उपचार कराने के बावजूद भी वे स्वस्थ नहीं हुए। उन्होंने अपने छोटे भाई मनसुखभाई से कहा—'भाई मनसुख! दु:खी मत हो, मैं अपने आत्मस्वरूप में लीन हो रहा हूँ।' इस तरह श्रीमद्जी चैत्र कृष्णा 5, मंगलवार को दोपहर दो बजे राजकोट में समाधि में लीन हुए।

श्रीमद्जी का अन्तिम सन्देश

सुख धाम अनन्त सुसन्त चही,
दिन रात रहे तदध्यान महीं;
पर शान्ति अनन्त सुधामय जे,
प्रणमुं पद ते, वर ते, जय ते।

(राजकोट, चैत्र शुक्ल 9, 1957)

श्रीमद् ने अन्तिम सन्देश में 'वर ते जय ते' इन शब्दों का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह है कि साधक स्वभाव की जयकार है। इन शब्दों में बहुत गम्भीर भाव भरा है। पूर्ण शुद्ध ऐसा चैतन्यघन आत्मा भेदज्ञान के बल द्वारा जागृत होता है और उस जाति का उग्र पुरुषार्थ होने पर पूर्ण सुखस्वरूप प्रगट होता है। जिसे मुनि आदि धर्मात्मा अर्थात् योगीजन चाहते हैं, उस पूर्ण स्वरूप के लक्ष्य से श्रीमद् राजचन्द्रजी ने अन्तिम सन्देश कहकर मुमुक्षुओं के प्रति परम उपकार किया है। स्वयं समाधिमरण की घोषणा में 'वर ते जय ते' ऐसा कहकर (जैसे कोई शास्त्र पूर्ण करते हुए पूर्ण मांगलिक करे वैसे ही श्रीमद् ने इस काव्य रचना में) अन्तिम मांगलिक किया है। अपना स्वाधीन शिव सुख प्रगट करने के लिये सबसे पहले स्वरूप की श्रद्धा करो, उसे ही जानो, उसका ही अनुभव करो-ऐसा कहा है।

❖❖❖

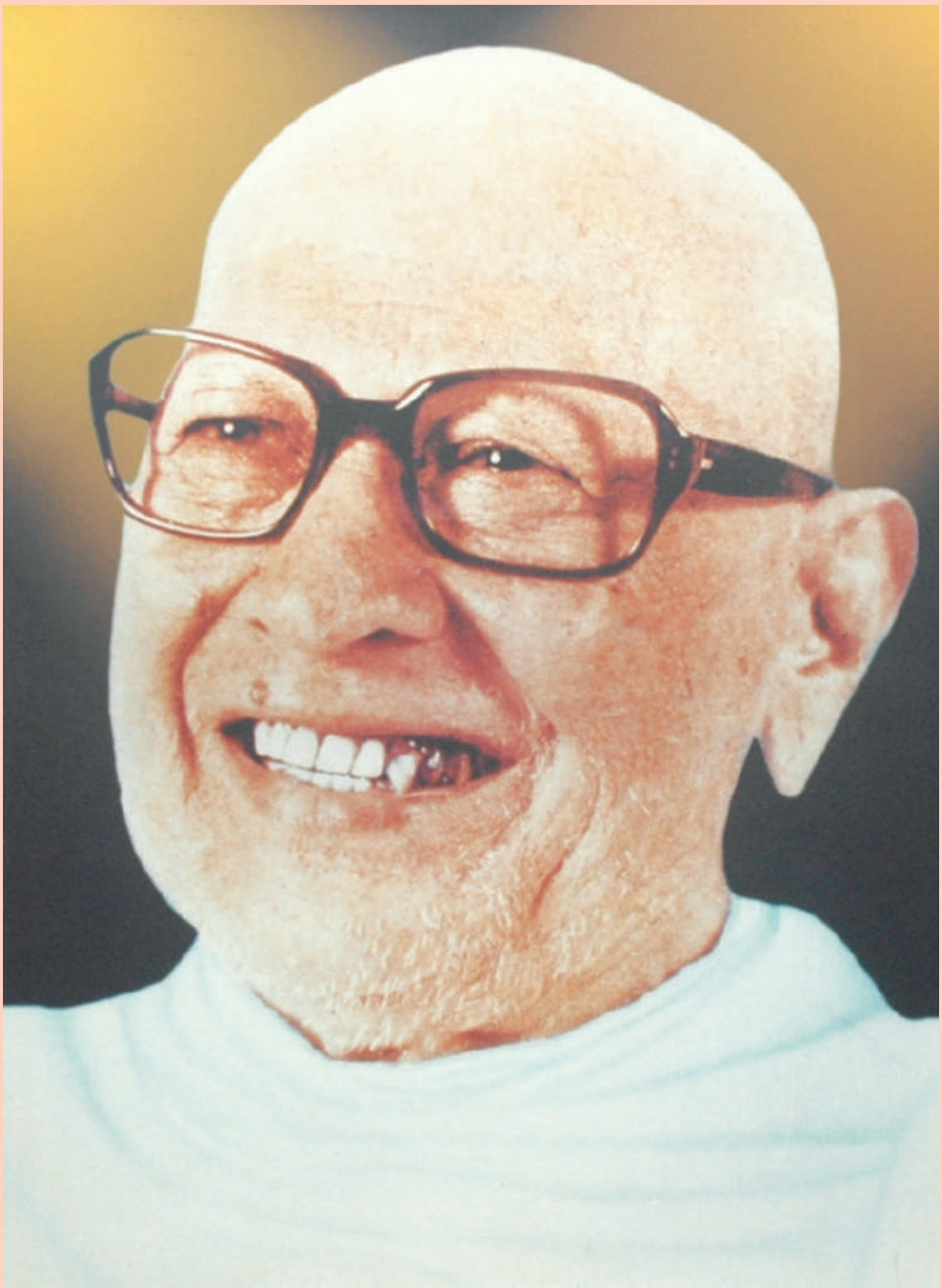

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(14)

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ

इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित

चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।

9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।

10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖❖❖

(आत्मसिद्धि प्रवचन से संकलित)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के श्रीमद् राजचन्द्रजी के प्रति प्रवाहित

हृदयोद्‌गार

अनन्त काल से आत्मा के नाम से स्वच्छन्द एवं मताग्रह से बाहर का सब कुछ किया है, अत: श्रीमद् ने निष्कारण करुणा से आत्मार्थी जीवों के हित के लिये आत्मसिद्धि शास्त्र की रचना की है। (पृष्ठ 60)

❁

श्रीमद्‌जी को वर्तमान में कोई गुरु नहीं थे; पूर्वभव के संस्कार थे। वे कहते थे कि—अहो! वह हृदय, वह एकान्त स्थल, सत्पुरुषों के वृन्द, सत्समागम और वह निवृत्ति के स्थान, ज्ञानी के विहार (विचरण) के स्थान! उनको धन्य है। प्रवृत्ति में रहते हुए भी उनको ये सब बारम्बार याद आ जाते थे।

वे दुकान में नहीं बैठे थे, किन्तु आत्मा में (ज्ञान में) बैठे थे। उन्हें अपने हृदय में सत्समागम का महत् बहुमान था। (पृष्ठ 73)

❁

सच्चा अध्यात्म क्या है ? सौराष्ट्र में इसे यथार्थ समझानेवाले यदि कोई हैं तो वे वर्तमान काल में श्रीमद् राजचन्द्र थे।...श्रीमद्‌जी का विशाल हृदय व उज्ज्वल अन्त:करण जो समझना चाहता है, उसे (पहले) अपने अन्दर पात्रता प्रगट करनी होगी। (पृष्ठ 87)

❁

श्रीमद्‌जी ने स्वयं ही शिष्य की जिज्ञासा की हूबहू रचना की है, और हृदय में आरपार उतर जाए, ऐसी हृदयवेधक भाषा में संवाद की रचना की है। (पृष्ठ 292)

❁

श्रीमद्‌जी ने ऐसी अपूर्व घटना की रचना की है कि उसमें कोई अंग बाकी न रह जाए। इस प्रकार संक्षेप में सत् तत्त्व को जाहिर किया है। अनन्त काल में अज्ञानभाव से जो भटकना हुआ, उस

अज्ञानभावरूप मूल का छेदन जिस भाव से किया, उस भाव से सद्गुरु को नमस्कार करके मांगलिक किया है। गुजरात-सौराष्ट्र में आत्मतत्त्व की ऐसी स्पष्ट बात गुजराती भाषा में करके, अध्यात्मशास्त्र बनाया, इससे भव्य जीवों पर बहुत उपकार हुआ है। हजारों जीव उस कृपा-प्रसाद से आत्मशान्ति की भावना भाते हैं। श्रीमद्जी ने बालवय में पूर्वजन्म के बलवान संस्कार द्वारा आत्मा की गुंजार जाहिर की है। उनका जीवनचारित्र बहुत उत्कृष्ट था। 'आत्मसिद्धि' में अध्यात्मतत्त्व का बहुत गहरा रहस्य भरा है। (पृष्ठ 346)

❁

उन समर्थ पवित्र आत्मा की (श्रीमद्जी की) देह की स्पर्शना इस भूमि से हुई है। वे अनन्त भव का अभाव कर गये हैं। वह अपूर्व भाव कैसा होगा कि जिस भाव से अनन्त भाव का अभाव होकर एक ही भव के बाद मोक्ष जानेवाले हैं!! (पृष्ठ 349)

❁

जो बात (आत्मस्वरूप का सच्चा न्याय) अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा कह गये हैं, वही बात श्रीमद् राजचन्द्रजी भी कह गये हैं। (पृष्ठ 406)

❁

श्रीमद् राजचन्द्रजी जवाहरात की दुकान पर बैठे हुए दिख रहे थे, फिर भी हर पल मोक्ष के निकट जा रहे थे। लोग बाहर से देखें तो अन्य कुछ दिखे। गृहस्थवेष में ज्ञानी को पहिचानना बाह्यदृष्टि जीवों को मुश्किल पड़ता है। (पृष्ठ 411)

❁

इस आत्मसिद्धि शास्त्र में कोई महान योगबल से, जगत के भाग्य के लिये गहरा-गहरा तत्त्वदर्शन रचा है। (आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन, द्वितीय आवृत्ति, पृष्ठ 494)

❁

इस आत्मसिद्धि में अनन्त ज्ञानी के ज्ञान अमृत का सार बहाया है, इस पंचम काल में आकर श्रीमद् एकावतारीपने के सन्देश देते हैं। (पृष्ठ 497)

❁

बहुत सरल भाषा से इस आत्मसिद्धि में गहरा रहस्य भरा है। (पृष्ठ 517)

❁

गुजराती भाषा में तत्त्व का गहरा रहस्य इस शास्त्र में प्रसिद्ध किया है। (पृष्ठ 517)

❁

ज्ञानी पुरुषों ने जिस प्रकार से आत्मा को कहा है, उसी प्रकार से इस आत्मसिद्धि में आत्मा को कहा है, इसका विश्वास करना और सत्समागम द्वारा इसका नित्य अभ्यास करना। (पृष्ठ 517)

❁

जैसा है, वैसा आत्मा और जड़, स्वभाव-विभाव, कषाय-अकषाय, कर्ता-अकर्ता, सक्रिय-अक्रिय, भोक्ता-अभोक्ता इत्यादि अनेक धर्म का रहस्य इस शास्त्र में आ जाता है, इसलिए यह बहुत विचारना। पूर्वापर विरोधरहित निर्णय होना चाहिए। (पृष्ठ 517)

❁

115, 116, 117, 118ये चार गाथायें हृदय में उत्कीर्ण रखने योग्य है। (पृष्ठ 522)

❁

जिन्होंने इस पंचम काल में सत्धर्म की प्रसिद्धि की और स्वयं अनन्त भव का अन्त लाकर, एक ही भव बाकी रहे, ऐसी पवित्र दशा आत्मा में प्रगट की, ऐसे पवित्र पुरुष का अति-अति बहुमान होना चाहिए। आज उनका जन्मदिवस जयन्ती है, धन्य है उन्हें। मैं स्पष्ट कहता हूँ कि गुजरात-काठियावाड़ में, वर्तमान काल में मुमुक्षु जीवों के परम उपकारी हों तो वे श्रीमद् राजचन्द्र हैं। गुजराती भाषा में आत्मसिद्धि लिखकर जैनशासन की शोभा बढ़ायी है। इस काल में उनके जैसे महत् पुरुष मैंने देखे नहीं हैं। उनके एक-एक वचन में गहरा रहस्य है। वह सत्समागम बिना समझ में नहीं आ सकता। (पृष्ठ 547)

❁

श्रीमद् का जीवन समझने के लिये मताग्रह से, दुराग्रह से दूर रहकर, उस पवित्र जीवन को मध्यस्थरूप से देखना चाहिए। ज्ञानी की विशाल दृष्टि के न्याय से विचारना चाहिए। उनकी भाषा में अपूर्व भाव भरे हैं। उसमें वैराग्य, उपशम, विवेक, सत्समागम सब है। बालक से लेकर अध्यात्मिक सत्स्वरूप की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए गहरे, गहरे न्याय, गम्भीर अर्थ उनके लेखन में हैं। व्यवहार नीति से लेकर पूर्ण शुद्धता-केवलज्ञान तक के भनकार उसमें हैं। किसी ज्ञानबल के अपूर्व योग से वे लिखे गये हैं। उनके अन्तर में वीतराग शासन की प्रभावना हो, सनातन जैनधर्म जयवन्त वर्ते, ऐसा निमित्त होने की गहराई में भावना थी। (पृष्ठ 548)

❁

हाल में श्री समयसारजी परम आगम शास्त्र पढ़ा जाता है, उसकी प्रभावना करनेवाले भी श्रीमद् राजचन्द्र थे। अपनी मौजूदगी में ही उन्होंने परमश्रुत प्रभावक मण्डल की स्थापना की। उनका उद्देश्य महान आचार्यों के आगम शास्त्र संशोधित करके प्रकाशित करने का था। उस मण्डल ने उन्नीस वर्ष पहले, एक हजार समयसारजी शास्त्र आचार्यवर कुन्दकुन्द भगवान रचित महासूत्र प्रकाशित किया। (पृष्ठ 548)

❁

यह पुस्तक प्रकाशित हों, ऐसी उनकी खास इच्छा थी। इस प्रकार उन्नीस वर्ष पहले श्री समयसार की प्रभावना उनके मार्फत हुई है। उस परमागम शास्त्र का अभी काठियावाड़ में अच्छे प्रमाण में लाभ लिया जा रहा है। (पृष्ठ 549)

❁

समयसार की इस काल में, प्रथम प्रसिद्धि करानेवाले श्रीमद् राजचन्द्र हैं, इसलिए उनका अनन्त उपकार है, उसका लाभ अभी बहुत भाई-बहिन लेते हैं, वह श्रीमद् का ही उपकार है, अभी उसकी दो हजार प्रतियाँ गुजराती में प्रकाशित हो रही हैं। उसका लाभ लेनेवालों को भी श्रीमद् उपकारी गिने जाते हैं। (पृष्ठ 549)

❁

श्रीमद् ने पत्र-पत्र में अन्तर्नाद से पुरुषार्थसहित एक ही भनकार गुंजाया है कि सत्समागम ही एक कल्याणकारी है। (पृष्ठ 551)

❁

आत्मसिद्धि सबको (बाल-गोपाल सब भाईयों-बहिनों को) अन्तरपट में उत्कीर्ण हो जाये, उस प्रकार से मुखपाठ करके धार रखना योग्य है। उसका ही रात-दिन मनन करने से अपनी जाति का निर्णय आयेगा। (पृष्ठ 551)

❁

श्रीमद् की पुस्तक में बहुत अर्थ सूचक गम्भीरता भरी है, उसमें प्रायः, मुख्यपने, इत्यादि अपेक्षा, साधारण जीव को न समझ में आये वैसा भी किसी जगह आता है। इसलिए सत्समागम से पढ़ना, विचारना; मोक्षमाला सबको पढ़ने जैसी है। और अन्दर पंचास्तिकाय संक्षिप्त भाषा में, अद्भुत भाव ग्रहण करके अपनी बलवान कलम से लिखा है। द्रव्यसंग्रह की गाथा का अर्थ भी लिया है। ऐसे महान आचार्यों का अनुभव स्वयं अपनी नोंध में लिख लिया है और पढ़नेवाले को

सुगम हो जाये, ऐसी रचना बनी है; तथापि उनकी वाणी में इतना अधिक गूढ़पना है कि उसमें प्राय: अर्थात् कथंचित्-(सापेक्षरूप से) समझना बहुत होता है। वह समझने के लिये मध्यस्थता और विशाल बुद्धि चाहिए। यदि आगे-पीछे की सन्धि, अपेक्षा मिलाये बिना कोई पढ़े तो भाव में सन्धि टूट जाये और समान मेल नहीं बैठे। इसलिए सत्समागम से पढ़ने-विचारने की प्रेरणा है। श्रीमद् ने तो मनुष्य जीवन में अपना सुकृत्य किया और आत्मा की अखण्ड समाधि लेकर गये हैं। (पृष्ठ 556)

❁

सबके घर में सबको आत्मसिद्धि कण्ठस्थ करनेयोग्य है, तथा मोक्षमाला जिसमें 108 मणकारूप पाठ है, वह छोटे बालकों को और वृद्धों को भी मोक्षमाला अवश्य पढ़ना। उन्हें (श्रीमद् को) सात वर्ष में तो जातिस्मरण ज्ञान के संस्कार प्रगट हुए थे। (पृष्ठ 556)

❁

श्रीमद् ने सोलह वर्ष और पाँच महीने में मोक्षमाला रची। फिर उत्तरोत्तर उनका जीवन देखोगे तो उसमें लोकोत्तर सुगन्ध देख सकोगे। वे सब संस्कार पूर्वभव के थे। ऐसे ज्ञानी पुरुष विद्यमान थे, तब उनका लाभ लेनेवाला खास कोई नहीं था। अब लाओ तो सही कि यह सन्देश कैसा होगा? एक बार वे पूर्वजन्म के संस्कार के स्मरण की भावना है कि धन्य वह सत्समागम! अरे, जो पूर्व में सत्समागम किया, वह क्षेत्र, वह काल और भाव स्मरण आता है। धन्य वह सत्समागम का आनन्द। प्रवृत्ति में बैठे होने पर भी वह निवृत्ति संयोग और सत्समागम याद आता है। यह उस एकान्त वनक्षेत्र में बैठे हैं या जवाहरात के धन्धे में हैं? धर्मात्मा को पहिचानने के लिये अन्तरंग दृष्टि खिलनी चाहिए। धर्मात्मा की अन्तर की उज्ज्वलता धर्मात्मा ही जानता है। साधारण जीवों के संक्षिप्त गज से ज्ञानी के महान हृदय का आँक नहीं दिखता। (पृष्ठ 557)

❁

अनुक्रमणिका

अनेकान्त का रहस्य	1
महादुर्लभ मानव जीवन	21
आत्मस्वभाव में अभेददृष्टि	31
महिमावन्त सत्समागम एवं सत्पुरुष	38
भव के अन्त के सम्बन्ध में श्रीमद् राजचन्द्रजी की ध्वनि	53
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों में कृपालुदेव.....	76
श्रीमद् राजचन्द्र : बहिनश्री की तत्त्वचर्चा के आलोक में	110

ॐ

મહાન સિદ્ધાંત.

राज-रत्न चिन्तामणि

कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी के विविध वचनामृतों पर
उपलब्ध पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
के संकलितन अप्रकाशित प्रवचन

अनेकान्त का रहस्य

श्रीमद्जी के इस एक वाक्य में समाहित जैन दर्शन के गहरे रहस्य को पूज्य गुरुदेवश्री ने इस प्रवचन में प्रगट किया है। पूज्य गुरुदेवश्री जब श्रीमद् राजचन्द्र जन्मधाम ववाणिया पधारे थे, तब वीर निर्वाण संवत् 2476 के माघ कृष्ण तीन का यह प्रवचन है।

अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त दूसरे अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी का जीवन आन्तरिक था। उसे समझने के लिये अन्तर की पात्रता चाहिए। बाह्य संयोग में खड़े होने पर भी धर्मात्मा की अन्तर स्वभाव की दृष्टि कुछ अलग काम करती है। संयोगदृष्टि से देखे तो उसे स्वभाव समझ में नहीं आता। बाह्य संयोग तो पूर्व के प्रारब्ध के निमित्त से होते हैं, परन्तु धर्मी की दृष्टि उन संयोगों पर नहीं होती। अन्तर में आत्मा का स्व-परप्रकाशक स्वभाव क्या है, इसके ऊपर उसकी दृष्टि होती है। ऐसी दृष्टिवन्त धर्मात्मा का आन्तरिक जीवन आन्तरिक दृष्टि से समझ में आये ऐसा है। बाह्य संयोग से उसका माप नहीं होता।

अन्यतर के चैतन्य पद की महिमा वाणी से अगोचर है, यह बतलाते हुए अपूर्व अवसर में कहते हैं कि —

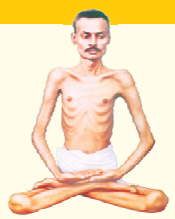

जो पद श्री सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जब;
उस स्वरूप को अन्य वाणी वह क्या कहे ?
अनुभवगोचरमात्र रहा वह ज्ञान जब... अपूर्व०

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा स्वसंवेदन से ज्ञात हो ऐसा है। स्वयं स्वसंवेदन से जाने तो देव-गुरु-शास्त्र को निमित्त कहा जाता है। यदि स्वयं अन्तर आत्मा को जानने का प्रयत्न न करे तो देव-गुरु-शास्त्र की वाणी के आश्रय को भी यथार्थरूप से नहीं जान सकता और उसे देव-गुरु-शास्त्र निमित्त नहीं कहलाते।

तालाब के ऊपर की सपाटी बाहर से समरूप लगती है परन्तु अन्दर उतरकर उसकी गहराई का माप करते हुए गहराई में कितना अन्तर है, वह ज्ञात होता है; इसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के वचन ऊपरी तौर से देखने पर समान हों ऐसा लगता है परन्तु अन्तर का गहरा रहस्य देखने पर उनके आशय में कितना अन्तर है, यह समझ में आता है।

ज्ञानी और अज्ञानी की व्यापार, खाना-पीना इत्यादि बाहर की क्रियायें एक समान दिखती है और बाह्य में वस्त्रादि संयोग का अभाव भी कदाचित् समान हो परन्तु उनकी अन्तर की दशा में आकाश-पाताल जितना अन्तर है, उसका माप बाहर से नहीं हो सकता। ज्ञानी को पूर्व प्रारब्ध से लाखों के व्यापार का संयोग वर्तता हो और अज्ञानी को कदाचित् पूर्व प्रारब्ध से बाह्य संयोग कम हो, परन्तु अन्तर में 'शरीरादि जड़ की क्रिया मैं करता हूँ' ऐसा पर में अहंपना अज्ञानी को होता है। आत्मा का अनादि-अनन्त ज्ञानस्वभावरूप निजपद है, उसका भान नहीं होता और पुण्य-पाप में तथा पर में अहंपना वर्तता है, इसीलिए अज्ञानी को क्षण-क्षण में अधर्म होता है और ज्ञानी को बाह्य संयोग बहुत होने पर भी, उनके अन्तर में एक रजकण का भी स्वामित्व नहीं है। अन्तरंग चैतन्यस्वभावरूप निज पद पर उनकी दृष्टि पड़ी है, इसलिए उनकी परिणति प्रतिक्षण निजपद की ओर झुकती जाती है। धर्मी-अधर्मी के माप बाहर से नहीं निकलता।

श्रीमद् ने अपने कथनों में जहाँ-तहाँ बारम्बार निजस्वरूप की प्राप्ति की पुकार की

है। 'मूलमार्ग' (काव्य) में भी कहा है कि

ते तीनों अभेद परिणाम से रे,
जब वर्ते वे आत्मारूप... मूल०
वह मारग जिनवर का पाया रे,
अथवा पाया वह निज स्वरूप... मूल०

सर्वज्ञ का मार्ग और निजपद की प्राप्ति पृथक नहीं है। जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों अभेदरूप से आत्मारूप वर्तते हैं, तब वह जीव सर्वज्ञ का मार्ग पाया, ऐसा कहो अथवा निजस्वरूप को पाया, ऐसा कहो—दोनों एक ही बात है।

जो निजपद अर्थात् आत्मस्वरूप सर्वज्ञ भगवान ने अपने ज्ञान में प्रत्यक्ष जाना, परन्तु वाणी द्वारा परिपूर्ण नहीं कहा गया—भगवान के ज्ञान में आया परन्तु वाणी में पूरा नहीं आया—उस पद की महिमा को अन्य वाणी क्या कहे ? 'अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जो।' वह पद वाणी से अगोचर और अपने ज्ञान के अनुभव से गोचर है। आत्मा का निजपद तो अपने स्वसंवेदन ज्ञान से ही वेदनयोग्य है—ज्ञात होनेयोग्य है—प्राप्त करनेयोग्य है—प्रगट करनेयोग्य है—अनुभव करनेयोग्य है। इस प्रकार निजपद की महिमा करके तत्पश्चात् अन्तिम कड़ी में उस पद की प्राप्ति के लिये भावना करते हुए कहते हैं कि—

वही परमपद प्राप्ति का किया ध्यान मैं,
गजा विना अरु हाल मनोरथरूप जो,
तो भी निश्चय राजचन्द्र मन में रहा,
प्रभु आज्ञा से होऊँगा वही स्वरूप जो... अपूर्व०

—ऐसे निजपद स्वरूप का स्वयं को भान तो हुआ है, परन्तु अभी पूर्ण प्राप्ति नहीं हुई, इसलिए पूर्ण प्राप्ति की भावना की है और उसकी प्राप्ति अवश्य होगी, ऐसी स्वयं को निःशंकता है।

भरूच के एक भाई अन्तर्दृष्टि बिना बाह्य क्रिया के विधि-निषेध के आग्रही थे।

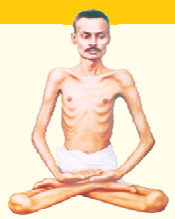

उनके प्रति एक पत्र में श्रीमद् लिखते हैं कि **अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त दूसरे अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।** इस एक लाईन में श्रीमद् ने सर्वज्ञ के हृदय का मर्म रच दिया है। सभी शास्त्रों का अन्तिम सार इसमें बता दिया है। पात्र जीव हो, वह इसका रहस्य समझ जाता है। श्रीमद् के वचनों में ऐसा गूढ़ भाव रहा हुआ है कि गुरुगम बिना अपने आप उसका पता लगे, ऐसा नहीं है।

बहुत से जीव शास्त्रों में कहे हुए व्यवहार व्रत, तप, उपवासादि क्रिया को तथा 'यह चलता है और यह नहीं चलता' ऐसे बाह्य विधि-निषेध के आग्रह में लगे रहते हैं और उसमें ही सर्वस्व मान बैठते हैं परन्तु उन व्रतादि में होनेवाला परसन्मुख जानेवाली वृत्तियों का भाव तथा देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का भाव, वे सभी भाव शुभराग / विकार है। जो उसमें ही धर्म मानकर अटक गये हैं, उन्हें श्रीमद् इस एक लाईन द्वारा कोड़ा मारकर अन्तर में झुकाना चाहते हैं। इस एक लाईन में कितना रहस्य रहा हुआ है, इसका माप बाहर से नहीं आता।

एक बहिन चावल के छिलके खांडती थी, उसमें चावल तो कसदार होने से नीचे उतरते थे और छिलके ऊपर दिखते थे। वहाँ दूसरी महिला ने यह देखा, उसने अन्दर के चावल तो नहीं देखे और मात्र बाहर के छिलके देखकर उन्हें खांडती लगती है, ऐसा मानकर स्वयं भी घर जाकर छिलके खांडने लगी परन्तु छिलकों में से चावल कहाँ से निकले ? उस महिला ने मात्र बाह्य अनुकरण किया; उसी प्रकार अज्ञानी जीव भी ज्ञानियों की गहरी अन्तर्दृष्टि को नहीं पहिचानते और मात्र उनके शुभराग का तथा बाहर की क्रिया का अनुकरण करते हैं। ज्ञानियों की दृष्टि पुण्य-पाप की वृत्तियों के ऊपर नहीं होती और जड़ शरीर की क्रिया मेरे कारण होती है, ऐसा नहीं मानते; उनकी दृष्टि का जोर अन्तर में निजपद के ऊपर होता है कि मैं अनादि-अनन्त ध्रुवस्वभावी ज्ञायकमूर्ति आत्मा हूँ। ऐसी अन्तर्दृष्टि को तो अज्ञानी जानता नहीं और अवस्था में वर्तती पुण्य-पाप की वृत्तियों को

तथा देहादि की क्रिया को देखता है तथा उनसे ही धर्म होता होगा, ऐसा मानता है अर्थात् छिलके खांडनेवाली महिला की भाँति वह भी छिलके जैसे शुभराग में और देहादि की क्रिया में अटका रहता है।

ज्ञानी तो अपने अन्तरस्वभाव सन्मुख झुकाव कर रहे हैं, इसलिए स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रतारूपी कस अन्दर में उतरता है (अर्थात् आत्मा में अभेद होते हैं)—कि जिसका फल बाहर में दिखाई नहीं देता। अस्थिरता के कारण पूजा-भक्ति-व्रत इत्यादि का शुभराग तथा व्यापार-धन्धा इत्यादि सम्बन्धी अशुभराग होता है, उसे ज्ञानी छिलके समान जानते हैं। जबकि देह, मन, वाणी की क्रिया तो जड़ की है, उन दोनों से भिन्न अपने निजस्वभाव पर ज्ञानी की दृष्टि है। ऐसी दृष्टि के कारण धर्मी को क्षण-क्षण में अन्तर निजपद की ओर झुकाव है। यद्यपि उसे बीच में पुण्य-पाप की वृत्ति उठने पर निमित्तों की ओर लक्ष्य जाता है और देहादि की क्रिया उसके कारण से स्वयं होती है। अज्ञानी उसे ही देखता है परन्तु ज्ञानी को अन्दर की गहरी दृष्टि के कारण क्षण-क्षण में धर्म होता है, उसे नहीं देखता।

बाह्य क्रियाकाण्ड में अटके हुए जीवों को अन्तर स्वभाव की दृष्टि की ओर झुकाने के हेतु से यहाँ श्रीमद् कहते हैं कि—भाई! सर्वज्ञ भगवान ने जो अनेकान्त मार्ग कहा है, वह सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति के लिये ही उपकारी है। अनेकान्त अर्थात् क्या? वस्तु में नित्य-अनित्य इत्यादि परस्पर विरुद्ध दो धर्म रहे हुए हैं, इसका नाम अनेकान्त है। आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, अवस्था से वर्तमान अशुद्ध है—इत्यादि प्रकार से दोनों पहलू जानकर, एक स्वभाव के सन्मुख झुकना, यही प्रयोजन है और इसका नाम सम्यक् एकान्त है। आत्मा स्वभाव से शुद्ध और अवस्था से अशुद्ध, ऐसे दोनों पहलू जानकर, उनके विकल्प में अटका रहे और शुद्धस्वभाव के सन्मुख नहीं झुके तो उसे निजपद की प्राप्ति नहीं होती और उसने वस्तुतः अनेकान्त को जाना नहीं कहा जाता।

आत्मा ध्रुव नित्य स्वभाव से ज्ञाता-दृष्टा, आनन्दस्वरूप है और क्षणिक अनित्य पर्याय में पुण्य-पापरूप विकार है, इस प्रकार एक शुद्ध चैतन्य पहलू है और दूसरा

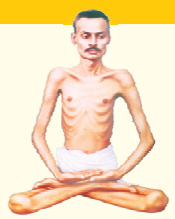

अशुद्ध पहलू है, ऐसे दोनों पहलुओं को जानना अनेकान्त है। अनेकान्त, वह सर्वज्ञ भगवान का मार्ग है। सर्वज्ञ का मार्ग अर्थात् निजपद का मार्ग। वस्तु त्रिकाली स्वभाव से शुद्ध और वर्तमान पर्याय से अशुद्ध, ऐसा अनेकान्त का ज्ञान, अन्तर स्वभावसन्मुख होकर निजपद की प्राप्ति करने के अतिरिक्त दूसरे किसी हेतु से उपकारी नहीं है। देखो! इसमें विचरने योग्य गहरा रहस्य है।

आत्मा त्रिकाली स्वभाव से शुद्ध है और वर्तमान अवस्था में अशुद्ध है। क्षणिक अवस्था की अशुद्धता के समय यदि सम्पूर्ण आत्मा अत्यन्त अशुद्ध ही हो गया हो, स्वभाव से भी शुद्ध न रहा हो तो अशुद्धता मिटकर शुद्धता आयेगी कहाँ से? प्राप्त की प्राप्ति होती है, इसलिए यदि शक्तिरूप शुद्धता हो तो पर्याय में व्यक्त हो, परन्तु यदि शुद्धता हो ही नहीं तो प्रगट नहीं हो। इसलिए आत्मा का शक्तिरूप स्वभाव शुद्ध है और प्रगट अवस्था में अशुद्धता है। यदि अवस्था में अशुद्धता न हो तो वर्तमान में शुद्धता होगी अर्थात् कि प्रगट परमानन्द का अनुभव होना चाहिए। इसलिए आत्मा एकान्त शुद्ध या अशुद्ध नहीं है परन्तु द्रव्यस्वभाव से शुद्ध और पर्याय में अशुद्ध—ऐसा अनेकान्त है। आत्मसिद्धि में कहा है कि—

है असंग यदि सर्वथा तुझे न भासे क्यों?
असंग है परमार्थ से यदि निज अनुभव त्यों।

आत्मा यदि सर्वथा पुण्य-पापरहित तथा कर्म के निमित्त रहित असंग होवे तो तुझे उसके आनन्द का व्यक्त अनुभव हुए बिना नहीं रहता। परनिमित्त के संग से आत्मा की अवस्था में यदि बिल्कुल विकार न होता हो तो असंग चैतन्य के परम आनन्द का अनुभव वर्तता होता; इसलिए अवस्था में विकार और निमित्त का संग है, तथापि 'असंग है परमात्म से' अन्तरस्वभाव की दृष्टि से देखने पर सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा असंग है। यदि परमार्थ से असंग न हो तो कभी असंग होगा नहीं और यदि व्यवहार से भी असंग हो तो पूर्णानन्द का अनुभव व्यक्त होना चाहिए। जो पुण्य-पाप, क्रोध इत्यादि की वृत्तियाँ होती हैं, वे कहीं जड़ को नहीं होती परन्तु चैतन्य की अवस्था में स्वयं ही कर्ता है। यदि

चेतन शुद्ध ही हो तो भूल किसकी ? संसार किसका ? तथा यदि चेतन की अवस्था में भूल न हो तो समझने का उपदेश किसे देना ? आत्मा शक्तिरूप से त्रिकाल शुद्ध, परिपूर्ण होने पर भी वर्तमान अवस्था में मलिन हुआ है। यदि वह मलिनता न होती तो अभी परमात्मा होता और यदि अशुद्धता ही उसका स्वरूप होता तो वह कभी मिट नहीं सकता। परमार्थ से आत्मा असंग-शुद्ध है और निज भान से वह प्रगट होता है।

इस प्रकार, आत्मा वर्तमान दृष्टि से संगवाला—मलिन है और वस्तुस्वभाव से शुद्ध है, ऐसा अनेकान्त है। परन्तु यह दोनों पहलू जानकर एकपना प्रगट न करे तो अनेकान्त का यथार्थ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अर्थात् कि 'स्वभाव से शुद्ध और अवस्था से अशुद्ध' ऐसे दो पहलू जानकर उनके सामने ही देखा करे और शुद्धस्वभाव के सन्मुख न झुके तो उसे निजपद की प्राप्ति नहीं होती और अशुद्धता नहीं मिटती परन्तु त्रिकाल स्वभाव से मैं शुद्ध हूँ और क्षणिक पर्याय में अशुद्धता है, ऐसे दोनों पहलुओं को जानकर यदि त्रिकाली शुद्धस्वभाव की ओर झुके तो निजपद की प्राप्ति हो और अशुद्धता मिटे।

यहाँ जैसे शुद्ध और अशुद्ध इन दो बोलों में अनेकान्त समझाया है, तद्नुसार उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार इत्यादि समस्त बोलों में भी समझना चाहिए। उपादान है और निमित्त भी है, ऐसे दोनों को जानकर, उपादान से वस्तु का काम होता है, निमित्त कुछ करता नहीं—ऐसा समझे और यदि उपादान की ओर ढले तो अनेकान्त का ज्ञान हुआ कहलाता है। अनादि का अज्ञानी जीव जब सच्चा आत्मभान अपनी योग्यता से प्रगट करता है, तब निमित्तरूप से आत्मज्ञानी सद्गुरु ही अवश्य होते हैं। सामने निमित्त न हो ऐसा नहीं होता और निमित्त कुछ कर दे, ऐसा भी नहीं होता। श्रीमद् कहते हैं कि—

बुझि चहत जो प्यास को हे बुझन की रीत,
पावे नहीं गुरुगम बिना यही अनादि स्थित।
पाया की यह बात है, निज छन्दन को छोड़;
पीछे लाग सत् पुरुष के, तो सब बन्धन तोड़॥

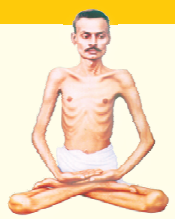

हे भाई! यदि तू आत्मस्वभाव का भान करना चाहता हो और अनादि का अज्ञान मिटाना हो तो यह पद्धति है। परन्तु गुरुगम बिना यह हाथ आवे, ऐसा नहीं है-ऐसी अनादि की वस्तुस्थिति है। चैतन्यस्वभाव कौन है, यह गुरुगम बिना समझ में नहीं आता। जब जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है, तब अपनी योग्यता से ही प्राप्त करता है परन्तु उस योग्यता के समय निमित्तरूप से गुरुगम न हो, ऐसा नहीं होता—ऐसा अनेकान्त है। निमित्त कुछ करता नहीं, तथापि (आत्मभान में) अज्ञानी निमित्त नहीं होता। जैसे चार मण चावल लेने जाए, तब ढाई सेर की बोरी सम्मिलित होती है। परन्तु चार मण चावल के साथ ढाई सेर की बोरी पकायी नहीं जाती तथा बारदानरूप से बोरी न हो, ऐसा नहीं होता; उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव को जानने में ज्ञानी निमित्तरूप से होते हैं, वह बारदान है—बाहर की चीज़ है। वह निमित्त समझा नहीं देता। आत्मा के आनन्द के अनुभव में ज्ञानी के अतिरिक्त अज्ञानी निमित्त नहीं होता, तथापि निमित्त कुछ करता नहीं। जैसे उत्तम केसर लेने जाए, वहाँ बारदान से शण की थैली नहीं होती परन्तु बढ़िया वरनी या पेटी होती है; उसी प्रकार अपूर्व सत्स्वभाव की समझ प्रगट करने में निमित्तरूप से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र होते हैं, अज्ञानी नहीं होता।

इस प्रकार उपादान कार्य करता है और निमित्त उपस्थित होता है, ऐसे दोनों को जानना, वह अनेकान्त है, परन्तु वह अनेकान्तिकमार्ग भी सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु से उपकारी नहीं है। अर्थात् कि उपादान और निमित्त—इन दोनों को जानकर मात्र एक उपादानस्वभाव सन्मुख होना, वह प्रयोजन है। उपादान है और निमित्त भी है, ऐसा जानकर यदि निमित्त के ही लक्ष्य में रुके और निमित्त का लक्ष्य छोड़कर अपने उपादान की दृष्टि प्रगट न करे तो निज पद की प्राप्ति नहीं होती। अपने स्वभाव सन्मुख की एकता प्रगट किये बिना अनेकान्त का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता।

(1) त्रिकाल द्रव्य शुद्ध और क्षणिक अवस्था में अशुद्धता- इन दोनों पहलुओं

को जानकर शुद्धस्वभाव सन्मुख झुकना, यह अनेकान्त का प्रयोजन है। शुद्धस्वभाव सन्मुख झुके बिना अशुद्धता का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

(2) स्वयं अपनी पात्रता प्रगट करके अन्तर में झुकाव करे तो सत् समझ में आता है। उस समय सद्गुरु निमित्त होते हैं, परन्तु निमित्त कुछ करता नहीं। इस प्रकार उपादान-निमित्त को जानकर, निमित्त का लक्ष्य छोड़कर, उपादान की ओर उन्मुख होना—यह प्रयोजन है। उपादान की ओर उन्मुख हुए बिना निमित्त का भी यथार्थ ज्ञान प्रगट नहीं होता।

— इस प्रकार दो बोल हुए। अब तीसरा बोल निश्चय और व्यवहार के सम्बन्ध में कहा जाता है।—

(3) अखण्ड चैतन्यस्वभाव की ओर झुकने से पहले सच्चे देव-गुरु-शास्त्र क्या कहते हैं, ऐसा परसन्मुखपने का शुभराग होता है, परन्तु उस शुभराग की वृत्ति की ओर से लक्ष्य छूटकर अखण्ड ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख हुए बिना निश्चय या व्यवहार का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। स्वभावसन्मुख ढलने पर राग का आश्रय टूटता है और तब अनेकान्त का ज्ञान होता है। अखण्ड ज्ञायकस्वभाव, वह निश्चय और शुभराग, वह व्यवहार। निश्चय ज्ञानस्वभाव के सन्मुख झुकने पर, जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान सामर्थ्य खिला, वह ज्ञान शुभराग को व्यवहाररूप से जान लेता है।

(i) समझने के काल में पर्याय में अशुद्धता होती है, तथापि स्वभाव शुद्ध है। उस शुद्धस्वभाव का आश्रय करे तो समझ में आये।

(ii) समझने की तैयारी के समय निमित्त होता है, परन्तु समझनेवाला उपादान स्वयं है—ऐसा जानकर, निमित्त का लक्ष्य छोड़कर उपादान की ओर ढले तो यथार्थ समझ में आये।

(iii) सत् समझने की पात्रता के समय शुभरागरूप व्यवहार होता है, परन्तु उस व्यवहार के आश्रय से कल्याण नहीं है। उस व्यवहार का आश्रय छोड़कर परमार्थ स्वभाव का आश्रय करे तो सत् समझ में आये।

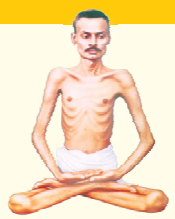

— इस प्रकार दोनों पहलू जानकर मात्र एक स्वभावसन्मुख ढले, तब अनेकान्त का ज्ञान होता है। दोनों पहलुओं को पकड़कर रखे तो अनेकान्त का ज्ञान नहीं होता। अज्ञानी अनेकान्त के नाम से झगड़ा करते हैं, परन्तु यहाँ 'अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त दूसरे अन्य हेतु से उपकारी नहीं है'—ऐसा कहकर समस्त झगड़ों का निपटारा कर दिया है।

(i) जीव समझता है, तब अशुद्धता होने पर भी उसके आश्रय से कल्याण नहीं होता, परन्तु शुद्धस्वभाव के आश्रय से ही कल्याण होता है।

(ii) जीव समझता है, तब निमित्त होता है, तथापि उसके आश्रय से कल्याण नहीं होता, परन्तु उपादानरूप स्वभाव के आश्रय से ही कल्याण होता है।

(iii) जीव समझता है, तब शुभरागरूप व्यवहार होने पर भी उसके आश्रय से कल्याण नहीं होता परन्तु रागरहित निश्चयस्वभाव के आश्रय से ही कल्याण होता है।

सर्वज्ञ भगवान ने केवलज्ञान द्वारा जगत के पदार्थों को जैसा है, वैसा जानकर वस्तु के अनेक धर्मों का वर्णन किया है।

(1) वस्तु स्वभाव से त्रिकाल शुद्ध है और वर्तमान अवस्था में अशुद्धता है।

(2) उपादान अपनी ताकत से समझता है, उस समय परनिमित्त होते हैं, परन्तु निमित्त कुछ करता नहीं।

(3) समझने के काल में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा इत्यादि शुभरागरूप व्यवहार होता है, परन्तु धर्म तो निश्चयस्वभाव के आश्रय से ही होता है।

— इस प्रकार दोनों पहलू होने पर भी 'अशुद्धता, निमित्त और राग मैं नहीं, शुद्ध उपादानरूप निश्चयस्वभाव, वह मैं'—ऐसी श्रद्धा करके स्वाश्रयभाव प्रगट करना, वह धर्म है। अनेकान्तिक मार्ग होने पर भी, सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति के लिये ही वह उपकारी है। दोनों बोल होने पर भी उन्हें जानकर, मात्र एक शुद्ध निश्चयस्वभाव सन्मुख ढलना, इसका नाम अनेकान्त है।

(1) दोनों—शुद्धता और अशुद्धता होने पर भी यदि शुद्धस्वभाव पर दृष्टि नहीं करे तो अशुद्धता को जानेगा कौन ?

(2) दोनों—उपादान और निमित्त होने पर भी उपादान की ओर ढले बिना निमित्त का यथार्थ ज्ञान करेगा कौन ?

(3) दोनों—शुद्धस्वभाव और राग अथवा निश्चय और व्यवहार होने पर भी निश्चयस्वभाव की ओर दृष्टि किये बिना व्यवहार को जानेगा कौन ? निर्मल स्वभाव सन्मुख के झुकाव बिना स्व-पर को जानने का विवेक होगा नहीं। अभेदस्वभाव की ओर ढलना, यही अनेकान्त का प्रयोजन है। अभेदस्वभाव की ओर ढलना, ऐसा कहो या सम्यक् एकान्त कहो-एक ही बात है। इसमें मोक्षमार्ग आ जाता है।

यहाँ 'सम्यक् एकान्त कहकर निमित्त राग और व्यवहार को उड़ा दिया है अर्थात् वे होने पर भी उनके आश्रय से कल्याण नहीं होता, परन्तु निज स्वभाव के आश्रय से ही कल्याण होता है, ऐसा समझाया है। दया, दान, व्रत इत्यादि शुभराग भी दुःख—आकुलता है और हिंसा, विषय-कषाय इत्यादि अशुभ वृत्तियाँ भी दुःख—आकुलता है। ये शुभ-अशुभ वृत्तियाँ आत्मा की अवस्था में होती अवश्य है परन्तु त्रिकाली स्वरूप नहीं है। अवस्था में पुण्य-पाप और अज्ञान है, उससे यदि कोई इनकार करे तो समझने का प्रयत्न करने का नहीं रहता तथा त्रिकाली स्वभाव में पुण्य-पाप और अज्ञान नहीं है, ऐसा यदि नहीं समझे तो, त्रिकाली स्वभाव के आश्रय बिना, पुण्य-पाप इत्यादि मिटेंगे नहीं। व्यवहार, निमित्त और राग है, उससे ज्ञानी इनकार नहीं करते परन्तु उनके द्वारा धर्म होगा या वह करते-करते धर्म होगा, ऐसा मानने से इनकार करते हैं।

जीवों ने यह बात कभी रुचिपूर्वक सुनी नहीं। संसार में जीव ने अनन्त मनुष्यभव किये हैं, उसमें सत् सुनानेवाले ज्ञानी भी अनन्त बार मिले हैं और साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा की सभा में जाकर दिव्यध्वनि भी सुनी है परन्तु अन्तर में निजपद को प्राप्त करने की योग्यता स्वयं ने प्रगट नहीं की है। निजपद को भूलकर परपद में ही यह अटक गया है। इसने या तो आत्मा को एकान्त शुद्ध ही माना, या सर्वथा अशुद्ध मान लिया अथवा निमित्त

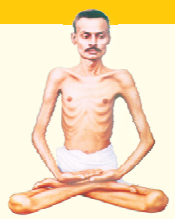

से कल्याण होगा, ऐसा माना या व्यवहार के आश्रय से लाभ मानकर राग में ही अटका है। परन्तु राग और निमित्तरहित निजस्वभाव की ओर कभी उन्मुखता नहीं की। स्वभावसन्मुख ढलता निश्चय है और परसन्मुख ढलता व्यवहार है। वस्तु का स्वभाव, वह उपादान है और परसंयोग, वह निमित्त है।

(1) अवस्था में अशुद्धता होने पर भी आत्मा स्वभाव से शुद्ध है।

(2) परनिमित्त होने पर भी आत्मा स्वसंवेद्य है।

(3) राग-व्यवहार होने पर भी निश्चय के अवलम्बन से धर्म है।

इसलिए हे भाई! (1) तू शुद्धस्वभाव के सन्मुख होकर उसका ज्ञान कर, तो तेरा ज्ञान अशुद्धता को यथार्थतः जानेगा।

(2) स्व-उपादान की दृष्टि कर, तो परनिमित्त को देखने की आँख खुलेगी।

(3) स्वभावसन्मुख होकर निश्चय प्रगट कर, तो विभाव-व्यवहार को जानने की ताकत खिलेगी। अथवा

(4) द्रव्य और पर्याय ऐसे दो बोल हैं, उनमें द्रव्यदृष्टि प्रगट कर, तो पर्याय का यथार्थ ज्ञान होगा।

— इस प्रकार शुद्ध और अशुद्ध; उपादान और निमित्त; निश्चय और व्यवहार तथा द्रव्य और पर्याय—ऐसे आठ बोल हुए। ये आठों ही बोल जाननेयोग्य हैं, परन्तु इन्हें जानकर एक शुद्धस्वभाव की ओर ढले बिना अनेकान्त का सच्चा ज्ञान नहीं होता। शुद्धस्वभाव कहो, उपादान कहो, निश्चय कहो या द्रव्य कहो—उस ओर ढले बिना अशुद्धता का, निमित्त का, व्यवहार का और पर्याय का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अनेकान्त का फल सम्यक् एकान्त है अर्थात् कि सम्यक् एकान्त के बिना यथार्थ अनेकान्त नहीं होता।

'मूलमार्ग' काव्य में श्रीमद् कहते हैं कि—

हे देहादि से भिन्न आत्मा रे,
उपयोगी सदा अविनाश... मूल०

ऐसा जाने सद्गुरु उपदेश से रे,
कहा ज्ञान उसका नाम खास... मूल०

जीव अन्तरस्वभाव की ओर ढलकर आनन्दकन्द, त्रिकाल उपयोगस्वरूप, अविनाशी आत्मा का ज्ञान करे, उसे ही यहाँ सम्यग्ज्ञान कहा है। पर्याय, निमित्त इत्यादि को ही जानने में रुके, परन्तु स्वसन्मुख होकर स्वभाव को न जाने तो सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

और सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में कहते हैं कि —

जिस ज्ञान द्वारा जाना रे
उसकी वर्ते शुद्ध प्रतीत... मूल०
कहा भगवन्त ने दर्शन उसको रे,
जिसका दूसरा नाम समकित... मूल०

यहाँ इन्द्रियों से या राग से जानने की बात नहीं की है, परन्तु ज्ञान से जानने की बात की है। इन्द्रियों और राग के अवलम्बन बिना अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा जिस आत्मस्वभाव को जाना, उसकी शुद्ध प्रतीति वर्ते, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। पहले निमित्तरूप से ज्ञानी का उपदेश होता अवश्य है, परन्तु उस उपदेश द्वारा आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। ज्ञानी का उपदेश सुनकर, पश्चात् स्वसन्मुख अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा स्वयं ऐसा जाना कि अहो! मैं आत्मा अखण्ड उपयोगी अविनाशी हूँ—इस निमित्त से, राग से, व्यवहार से और भेद से जाना नहीं, परन्तु स्वसन्मुख ढले हुए ज्ञान से जाना है।

देखो! श्रीमद् के इस काव्य में कितना रहस्य भरा है! अज्ञानी रिकॉर्ड की तरह मात्र शब्द बोल जाते हैं, परन्तु अन्तर का आशय नहीं समझते। जैसे रिकॉर्ड बोलती है। परन्तु उस रिकॉर्ड को हृदय नहीं है, उसी प्रकार अज्ञानी भाषा रटकर रिकॉर्ड की तरह बोल जाते हैं परन्तु अन्दर में भाव की समझ नहीं है। पहले, दूसरी तरह से जानने का मानता था अर्थात् शास्त्र से, इन्द्रियों से या राग से जानना मानता था, वह अज्ञान था। अब कहते हैं कि 'ज्ञान के द्वारा जाना रे...' क्या जाना? 'मैं शुद्ध उपयोगस्वरूप अविनाशी आत्मा हूँ' ऐसा जाना; और ऐसा जाना तो 'मैं रागी हूँ, परनिमित्त से समझता हूँ', ऐसी

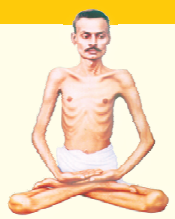

मिथ्या मान्यता थी, वह मिट गयी। अवस्था में रागादि होने पर भी इतना ही अपने को नहीं स्वीकारते हुए 'मैं शुद्ध उपयोगस्वरूप शाश्वत् हूँ' ऐसा स्वीकार कर जहाँ अपने स्वभावसन्मुख हुआ, वहाँ दोनों पहलुओं का ज्ञान होकर सम्यक् एकान्त हुआ। राग और ज्ञानस्वभाव इन दोनों को जाना सही, परन्तु 'राग, वह मैं नहीं; ज्ञान, वह मैं हूँ'—ऐसे ज्ञान की ओर ढलने से सम्यक् एकान्त हुआ।

निचली अवस्था में राग एकदम मिट नहीं जाता और रागादिभाव होते अवश्य हैं, परन्तु वे रागादि होने पर भी, उनसे आत्मा को जाना नहीं; ज्ञान से ही जाना है। राग से पृथक् पड़कर ज्ञान को अपने स्वभाव में एकत्व किया, वह सम्यक् एकान्त है, मोक्षमार्ग है, धर्म है। अवस्था में राग है, व्यवहार है और बाह्य में राग के निमित्त हैं परन्तु उन सबको जानकर शुद्ध अभेदस्वभाव-सन्मुख ढलना, यही प्रयोजन है। यहाँ शुद्ध-अशुद्ध, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, और द्रव्य-पर्याय ऐसे चार बोल दो-दो प्रकार से समझाकर आत्मा को स्वभाव की एकता की ओर उन्मुख किया है।

यहाँ कोई कहे कि यह सब प्रकार जानकर पश्चात् क्या करना? तो उसे ऐसा समझाया है कि यह सब जानकर सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति करने के लिये—

(1) अशुद्धता का आश्रय छोड़कर शुद्ध आत्मा का आश्रय करना।

(2) निमित्त का आश्रय छोड़कर उपादान का आश्रय करना।

(3) व्यवहार का आश्रय छोड़कर निश्चय का आश्रय करना।

(4) पर्याय का आश्रय छोड़कर द्रव्य का आश्रय करना।

राग, निमित्त और व्यवहार भले हो परन्तु धर्मी का झुकाव तो शुरुआत से ही सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति के प्रति ही है। साधकदशा की शुरुआत से लेकर पूर्ण परमात्मपद की प्राप्ति होने तक ऐसा ही झुकाव होता है। रागादि व्यवहार और भंगभेद बीच में आवें, वे जानने के लिये हैं, परन्तु उनमें रुचि करके अटकने के लिये नहीं

है। इस प्रकार नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद इत्यादि सभी बोलों में भी समझ लेना चाहिए। पूर्ण परमात्मपद प्रगट होने के पश्चात् एक ओर ढलना रहता नहीं तथा नय भी नहीं होते।

वस्तु अनन्त गुण का पिण्ड है। यह वस्तु तो है... है... और है... त्रिकाल है। वह वस्तु कहीं नयी प्राप्त नहीं होती परन्तु उसका भान होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा पूर्ण परमात्मपद प्रगट होता है और उसका नाम निजपद की प्राप्ति है। मूलमार्ग में कहते हैं कि—

ये तीनों अभेद परिणाम से रे,
जब वर्ते ये आत्मारूप... मूल०
वह मारग जिनवर का पाया रे,
अथवा पाया वह निज स्वरूप... मूल०

जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों अभेद परिणाम से आत्मारूप वर्तते हैं, तब वह जीव जिनवर का मार्ग पाता है अर्थात् निजस्वरूप को पाता है। जिनवर का मार्ग कहो या निजस्वरूप कहो, वे कोई अलग नहीं हैं। लोग बाहर में जिनेन्द्र का मार्ग मानकर बैठे हैं परन्तु जिनेन्द्र का मार्ग बाहर में नहीं है, अपना आत्मस्वरूप ही जिनवर का मार्ग है।

(1) अवस्था में अशुद्धता होने पर भी शुद्धस्वभाव पर दृष्टि।

(2) परनिमित्त होने पर भी स्वद्रव्य का—उपादान का आश्रय।

(3) व्यवहार होने पर भी निश्चय का अवलम्बन।

(4) क्षणिक पर्यायरूप भेद होने पर भी अभेद द्रव्य पर दृष्टि अथवा पर्यायों की अनेकता होने पर भी एकरूप स्वभाव का आश्रय।

— ऐसा सम्यक् एकान्त है और उसकी प्राप्ति कराना, यही अनेकान्त का प्रयोजन है। निश्चय के अवलम्बन से ही धर्म होता है और व्यवहार के अवलम्बन से भी धर्म होता है, इसका नाम अनेकान्त नहीं है, यह तो मिथ्या अनेकान्त है। निश्चय के

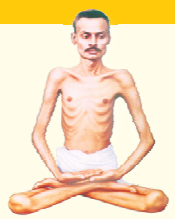

आश्रय से धर्म होता है और व्यवहार के आश्रय से धर्म नहीं होता, यह सम्यक् अनेकान्त है और उसे जानकर निश्चय की ओर ढलना, इसका नाम सम्यक् एकान्त है। मोक्षमार्ग में कहीं व्यवहार का अवलम्बन है ही नहीं। मोक्षमार्ग में बीच में व्यवहार आने पर भी उसके अवलम्बन से धर्म टिकता नहीं। मोक्षमार्ग तो निश्चय के अवलम्बन से ही टिकता है।

भाई! शास्त्रों में निश्चय के तथा व्यवहार के, उपादान के तथा निश्चय के, द्रव्य के तथा पर्याय के, अभेद के तथा भेद के और शुद्ध के तथा अशुद्ध के कथन आते हैं, परन्तु सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति करना, वही सबका सार है। यह सब जानकर, यदि स्वभाव सन्मुख न ढले तो जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता और कल्याण नहीं होता। यदि स्वभाव की रुचि न करे और भेद की, व्यवहार की, निमित्त की ओर पर्याय की रुचि करे तो मिथ्या एकान्त हो जाता है। शास्त्र के लक्ष्य से अनेक पहलू जानकर यदि स्वभावसन्मुख न झुके तो जीव को लाभ क्या?

मैं त्रिकाल ज्ञाता-दृष्टा हूँ, पूर्णानन्द प्रगट करने की सामर्थ्य मुझे भरी है। ज्ञान, दर्शन और वीतरागी क्रिया का ही मैं कर्ता हूँ; जड़ की क्रिया का मैं कर्ता नहीं तथा पुण्य-पाप मेरी स्वाभाविक क्रिया नहीं। कोई पर मुझे भटकाता नहीं और कोई पर मुझे समझा सके, ऐसी सामर्थ्यवाला नहीं है। मैं मेरी भूल से भटका हूँ और मेरे पुरुषार्थ से सच्ची समझ करके मुक्ति पा सकता हूँ। अनन्त सर्वज्ञ, सन्त पूर्व में हो गये परन्तु मैं मेरी पात्रता के अभाव से नहीं समझा। मेरे निज पद की प्राप्ति स्वसन्मुख के पुरुषार्थ से होती है। मैं वर्तमान में मेरे पूर्णानन्दमय स्वभाव की प्राप्ति करना चाहता हूँ। पूर्णानन्द प्रगट करनेवाले जीव पूर्व में अनन्त हो गये हैं, अभी लाखों विचरते हैं और भविष्य में भी अनन्त होंगे। सर्वज्ञता के बिना पूर्णानन्द नहीं होता। सर्वज्ञता प्रगट करके पूर्णानन्द प्राप्त करनेवाले जीव सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद का ही आश्रय लेकर भूतकाल में पूर्णानन्द को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में प्राप्त करते हैं और भविष्य में भी प्राप्त करेंगे। इसके अतिरिक्त राग, निमित्त और व्यवहार—यह सब परपद है, इनके आश्रय से भूतकाल में निज पद को प्राप्त नहीं हुए,

वर्तमान में प्राप्त नहीं होते और भविष्य में भी प्राप्त नहीं होंगे। तीनों काल यह एक ही भव के अन्त का और मुक्ति की प्राप्ति का उपाय है।

श्रीमद् के वचनों में जहाँ हो, वहाँ भव के अन्त की भणकार है। वे लिखते हैं कि—

काया की विसारि माया, स्वरूप में समाये ऐसे,
निर्ग्रन्थ का पन्थ भव अन्त का उपाय है।

स्वसन्मुख होकर स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करके, उसमें लीनता करना, यही भव के अन्त का उपाय है। भव के अन्त का पन्थ किस प्रकार शुरु होता है ? भव के कारण का आश्रय लेने से अथवा भवरहित स्वरूप का आश्रय लेने से ? आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त पर का आश्रय स्वीकार करना, वह बन्ध का पन्थ है और शुद्धस्वभाव का आश्रय स्वीकार करना, वह मोक्ष का पन्थ है। आत्मसिद्धि में कहा है कि—

जो-जो कारण बन्ध के, वही बन्ध का पन्थ;
उन कारण छेदक दशा, मोक्षपन्थ भव अन्त।

शुभाशुभभाव की और पर्याय की बुद्धि, वह बन्ध का अर्थात् संसार का पन्थ है और उसका छेद, वह भव के अन्त का अर्थात् मोक्ष का पन्थ है। परन्तु वह छेद किस प्रकार होता है ? 'इन शुभाशुभभाव की रुचि का और पर्यायबुद्धि का छेद करूँ' इस प्रकार उनके सामने देखते रहने से उनका छेद नहीं होता परन्तु आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वभाव की रुचि करके उसमें एकाग्र होने पर राग की रुचि का और पर्यायबुद्धि का छेद हो जाता है। अर्थात् उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती। इसीलिए शुद्ध चैतन्यस्वभाव की रुचि करके उसमें एकाग्रता करना ही मोक्ष का अर्थात् भव के अन्त का पन्थ है।

शास्त्रों में निश्चय तथा व्यवहार दोनों की बात है परन्तु आश्रय तो एक निश्चय का ही बताया है। ज्ञान करने के लिये परचीज़ है अवश्य, परन्तु कल्याण तो स्व के आश्रय से ही होता है। अभेद के आश्रय से—निश्चय के आश्रय से—द्रव्यसामान्य के

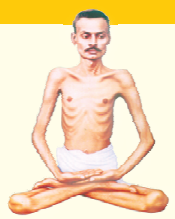

आश्रय से अथवा शुद्ध उपादान के आश्रय से कल्याण है, परन्तु इसके अतिरिक्त भेद के आश्रय से—व्यवहार के आश्रय से—पर्याय के आश्रय से और निमित्त के आश्रय से कल्याण नहीं है। शास्त्रों में निश्चय-व्यवहार इत्यादि दो-दो पहलुओं का ज्ञान कराया है, परन्तु उन दो पहलुओं को जानकर एक स्वभावसन्मुख ढलने के लिये यह उपदेश है।

बाह्य संयोग और निमित्त भले हो, परन्तु वे आत्मा के धर्म का साधन नहीं है। अरे प्रभु! तू चैतन्य भगवान ऐसा वीर्यहीन नहीं है कि तुझे परसंयोग की अनुकूलता से लाभ हो। तेरे कल्याण के लिये पर के आश्रय की आवश्यकता पड़े, ऐसा तेरा स्वरूप नहीं है। निमित्त भले हो, परन्तु वे तेरे आत्मा से पर हैं और निमित्त के लक्ष्य से व्यवहार / शुभराग होता है, वह भी तेरे स्वभाव से पर है, इस प्रकार जानकर स्वभावसन्मुख झुकना ही परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है। इस प्रकार सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य हेतु से अनेकान्त उपकारी नहीं है। पर्याय में अशुद्धता है अवश्य, परन्तु उसके आश्रय से निज पद की प्राप्ति नहीं होती। स्वभावसन्मुख ढले बिना पर्याय के आश्रय से कल्याण हो, ऐसा अनेकान्त मार्ग में अर्थात् वस्तु के स्वभाव में है ही नहीं। तू अनेकान्त को समझकर तेरे स्वभाव की महिमा कर और उसके सन्मुख झुक, यही कल्याण का मार्ग है। निज पद की अर्थात् परमात्मस्वरूप की प्राप्ति स्व के आश्रय से ही होती है। पर के आश्रय से तो निज पद की प्राप्ति रुकती है। उपादान के आश्रय से निज पद की प्राप्ति होती है और निमित्त के आश्रय से निज पद की प्राप्ति रुकती है।

निज पद की प्राप्ति जीव से हो सकती है और उसका यह उपदेश है। अनादि काल से जीव ने अपने निज पद की सम्हाल नहीं की और निमित्त तथा व्यवहार के आश्रय से कल्याण मानकर पर पद की ही प्राप्ति की है। स्व-पद को—चैतन्यस्वभाव को भूलकर पर का आश्रय करने से परपद की—राग की, कर्म की और शरीररूप संयोग की—प्राप्ति होती है, परन्तु चार गति के अवतार मिटते नहीं। राजपद या देवपद हो, वे सब परपद हैं

और उनके कारणरूप पुण्यभाव भी परपद है। वह चैतन्यभगवान आत्मा का पद नहीं है। निज पद तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है और उसके आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान-रमणता होने पर परमात्मपद की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त पर के आश्रय से राग उठता है, उससे परपद की प्राप्ति होती है। अनेकान्त अपने स्वभाव पद की प्राप्ति के लिये ही उपकारी है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी का जीवन एकदम आन्तरिक था। उन्हें संयमदशा नहीं हुई थी, परन्तु अन्तरस्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई थी और पूर्णस्वभाव प्राप्ति के लिये प्रयत्न वर्तता था। उन्हें अन्दर से भगवान आत्मा जागृत हुआ था। अन्त में उनकी पुकार है कि—

'बहुत शीघ्रता से प्रवास पूरा करना था।' इस संसार का अन्त लाकर निज पद की पूर्ण प्राप्ति शीघ्र करने की भावना थी। पूर्णता की ही भावना थी। आत्मा में केवलज्ञान की अनन्त पर्यायें सादि-अनन्त काल प्रगट हुआ करे, ऐसी सामर्थ्य भरी है। ऐसा परिपूर्ण आत्मा दृष्टि में-प्रतीति में तो आया है और स्वभाव की निशंकता भी प्रगट हुई है। अब उस स्वभाव के आश्रय से अल्प काल में संसार का अन्त करके मोक्षदशा प्रगट करने की भावना थी। 'बहुत शीघ्रता से प्रवास पूरा करना था परन्तु बीच में यह सहरा का रण सम्प्राप्त हुआ, सिर पर बहुत बोझा रहा था, वह आत्मवीर्य से जैसे अल्पकाल में भोग लिया जाए, उस प्रकार के करने से निकाचित उदयमान थाक ग्रहण किया है।' यहाँ पर्याय की निर्बलता का ज्ञान वर्तता है, उसकी बात की है। उसमें भी आत्मवीर्य की बात की है। परन्तु कर्म की बात नहीं ली। अन्तर में सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद के ऊपर दृष्टि पड़ी है और स्वभाव-सन्मुख पुरुषार्थ का वेग बढ़ा है परन्तु स्वभाव में झुकते-झुकते वीर्य रुक गया। पूर्णता के पुरुषार्थ तक पहुँच नहीं सका, इसलिए एकाध भव हुआ। इस भव का ज्ञान वर्तता है, तथापि स्वभाव की नि:शंकता है। यह प्रसिद्ध करते हुए कहते हैं कि—

'जो स्वरूप है, वह अन्यथा नहीं होता, यही अद्भुत आश्चर्य है। अव्याबाध

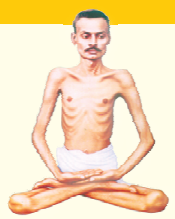

स्थिरता है।' अवस्था में निर्बलता से वीर्य जरा रुका है, तथापि दृष्टि में जो स्वरूप आया है, वह अन्यथा होनेवाला नहीं है अर्थात् कि स्वरूप की दृष्टि कभी च्युत होनेवाली नहीं है। उस दृष्टि के जोर से स्वरूप स्थिरता प्रगट करके अल्प काल में हम पूर्णदशा प्राप्त करनेवाले हैं। 'स्वात्म वृत्तान्त' में नि:शंकतापूर्वक कहते हैं कि—

अवश्य कर्म का भोग है,
भोगना अवशेष रे;
इससे देह एक ही धारकर,
जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे... धन्य रे०

अब अनन्त भव करना नहीं रहा, परन्तु एक ही भव शेष है। एक भव में हमें पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति होगी, उसमें तीन काल-तीन लोक में शंका नहीं पड़ती। अपूर्व अवसर की अन्तिम कड़ी में भी इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि—

यही परमपद पाने को धर ध्यान जब,
शक्तिविहीन अवस्था मनरथरूप जब,
तो भी निश्चय राजचन्द्र के मन रहा,
प्रभु आज्ञा से होऊँ वही स्वरूप जब... अपूर्व०

अन्तर में परमात्मस्वभाव की दशा और ज्ञान प्रगट हुए हैं और उसकी पूर्ण प्राप्ति के लिये भावना वर्तती है। ऐसी जिसकी दशा हो, वह एकावतारी हो, ऐसी भगवान की आज्ञा का, कहते हैं कि हमें भान है। अब उसके साथ अपना निश्चय मिलाकर कहते हैं कि हम अल्प काल में अवश्य उस परमात्मस्वरूप होयेंगे। अन्तरस्वभाव की दृष्टिपूर्वक ऐसे अपूर्व स्वकाल के पुरुषार्थ की भावना करते-करते जिसे देह छूटे, उसे अब विशेष भव नहीं होते।●

महादुर्लभ मानव जीवन

हे जीव! महापुण्ययोग से तूने यह मनुष्य अवतार प्राप्त किया है... संसार के दूसरे अवतारों की अपेक्षा यह मनुष्य अवतार उत्तम माना गया है... ऐसे मूल्यवान् मानव जीवन में क्या करने योग्य है? किस उपाय से सच्चे सुख की प्राप्ति होती है? जिज्ञासु को किस प्रकार का तत्त्वविचार करना चाहिए? – इन सबका सुन्दर विवेचन यहाँ श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा लिखित मोक्षमाला के चौथे पाठ के आधार से एकदम सरल शैली में किया गया है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी को मात्र सात वर्ष की उम्र में पूर्व भवों का ज्ञान हुआ था। उनके ज्ञान का क्षयोपशम बहुत था, सोलह वर्ष की अल्प आयु में मात्र तीन दिन में उन्होंने मोक्षमाला के 108पाठों की रचना की है। उसमें चौथे पाठ में मानवदेह की दुर्लभता और उत्तमता किस प्रकार है? – यह बात समझायी गयी है।

'तुमने सुना तो होगा कि विद्वान् मानवदेह को दूसरी सभी देहों की अपेक्षा उत्तम कहते हैं परन्तु उत्तम कहने का कारण तुम नहीं जानते होंगे; इसलिए मैं उसे कहता हूँ।' यह मनुष्यदेह अनन्त काल में प्राप्त होती है, इसमें धनादिक प्राप्त होना कोई अपूर्व नहीं है और उससे आत्मा की महिमा भी नहीं है। आत्मा, अन्तर में ज्ञान-आनन्द से भरपूर पदार्थ है, उसकी समझ करना ही अपूर्व है और उसी से मानवदेह की उत्तमता है।

विद्वान्, मानवदेह को अन्य सब देहों से उत्तम कहते हैं परन्तु वह किसलिए उत्तम है, यह यहाँ समझाते हैं। अमूल्य तत्त्व विचार में श्रीमद्जी स्वयं कहते हैं कि –

बहु पुण्य-पुंज प्रसंग से शुभदेह मानव का मिला।
तो भी अरे! भवचक्र का, फेरा न एक कभी टला॥

यह मानवदेह तो जड़ है परन्तु मानवपने में जीव, सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्ररूप

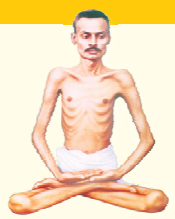

पवित्रभाव प्रगट कर सकता है; इसलिए देह को भी उपचार से *'शुभदेह'* कहा जाता है। अनन्त काल में यह मानवदेह प्राप्त हुआ है, यदि इसमें आत्मा की सच्ची समझ प्रगट करे तो इसे उत्तम कहा जाता है; इसके अतिरिक्त लक्ष्मी के ढ़ेर अथवा बड़े अधिकार प्राप्त होने से मानवदेह की उत्तमता ज्ञानियों ने नहीं कही है; इसलिए कहा है कि –

लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी, पर बढ़ गया क्या बोलिये।
परिवार और कुटुम्ब है क्या? वृद्धि नय पर तोलिये॥
संसार का बढ़ना अरे! नरदेह की यह हार है।
नहिं एक क्षण तुझको अरे! इसका विवेक विचार है॥

बाहर में लक्ष्मी इत्यादि का संयोग बढ़ा, इससे आत्मा में क्या बढ़ा? – यह तो विचार करो। किसी बाह्य संयोग से आत्मा की महिमा नहीं है। यदि जीव, मानवदेह प्राप्त करके शरीर से भिन्न आत्मा की पहचान नहीं करे तो इस मनुष्यदेह की कोड़ी की भी कीमत नहीं है। यह जीव, आत्मा के भान बिना मात्र बाह्य संयोग की मिठास करके, संसार बढ़ाकर मनुष्यभव हार जाता है।

जो आत्मा की अन्तर की चीज होती है, वह आत्मा से भिन्न नहीं हो सकती। शरीर, पैसा, स्त्री, पुत्र इत्यादि वस्तुएँ आत्मा की नहीं हैं, इसलिए वे वस्तुएँ परभव में आत्मा के साथ नहीं जातीं। लाखों रुपये प्राप्त होने से जीव की महिमा नहीं है और रुपये प्राप्त होने में वर्तमान की चतुराई भी कार्यकारी नहीं है। जीवों को बाह्य संयोग तो पूर्व प्रारब्ध अनुसार प्राप्त होते हैं। कहीं भगवान किसी को सुखी-दु:खी नहीं करते तथा संयोग का भी सुख-दु:ख नहीं है। जीव स्वयं अपनी भूल से पराश्रित होकर दु:खी होता है और यदि आत्मा की पहचान करके स्वाश्रयभाव प्रगट करे तो स्वयं से स्वयं का कल्याण होता है।

हे जीव! अनन्त काल में महामूल्यवान् यह मनुष्यदेह और सत्समागम प्राप्त हुआ

है; इसलिए अब तू अपने आत्मा की समझ कर। आत्मा की समझ किये बिना तूने अनन्त-अनन्त काल निगोद और चींटी इत्यादि के भव में व्यतीत किया है। अरे! वहाँ तो सत् के श्रवण का अवकाश भी नहीं था। अब यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके समझ का रास्ता ले। भाई! अन्तर में आत्मा की महिमा आना चाहिए। पैसा, स्त्री इत्यादि की जो महिमा है, वह मिटकर अन्तर में चैतन्यस्वरूप की महिमा का भास होना चाहिए।

जिस प्रकार हिरण को अपनी नाभि में स्थित सुगन्धित कस्तूरी का विश्वास नहीं आता, इसलिए वह बाह्य में सुगन्ध मानकर परिभ्रमण करता है; इसी प्रकार इस जीव में अपने में ही अपनी प्रभुता भरी है, इसमें ही तीन लोक का नाथ परमात्मा होने की सामर्थ्य विद्यमान है परन्तु पामर को अपनी प्रभुता का विश्वास नहीं आता; इसलिए अपनी प्रभुता की महिमा विस्मृत करके बाह्य पदार्थों की महिमा करता है। इस कारण पराश्रय से संसार में परिभ्रमण करता है।

देखो, इस मनुष्यदेह में ही मुख्यरूप से आत्मा की समझ करने का अवकाश है। जब तक आत्मतत्त्व की महिमा को नहीं जाना, तब तक व्रत-तप-दान अथवा यात्रा इत्यादि करने से क्या हुआ? आत्मा की पहचान बिना मनुष्यदेह की अथवा व्रतादि की परमार्थमार्ग में कुछ गिनती नहीं है। आत्मा की पहचान के कारण ही मनुष्यदेह की उत्तमता कही गयी है।

'यह संसार बहुत दु:ख से भरा हुआ है। ज्ञानी इसमें से तरकर पार होने का प्रयत्न करते हैं। मोक्ष को साधकर वे अनन्त सुख में विराजमान होते हैं। यह मोक्ष दूसरी किसी देह से मिलनेवाला नहीं है। देव, तिर्यञ्च या नरक, इनमें से एक भी गति से मोक्ष नहीं है; मात्र मानवदेह से मोक्ष है।'

यह संसार महादु:ख से भरपूर है। अज्ञानभाव के कारण जीव चार गतियों में परिभ्रमण करता है। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक - यह चार गतियाँ हैं। उनमें

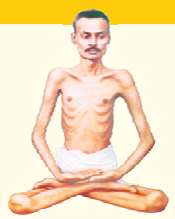

मनुष्यदेह अनन्त काल में प्राप्त होती है और मनुष्यदेह में भी सत्समागम की प्राप्ति तो महा-दुर्लभ है। मनुष्यभव प्राप्त करके भी जीव ने अपने आत्मा की दरकार नहीं की है और बाहर में देह, परिवार इत्यादि पर की वार्ता में रुककर मानव जीवन व्यर्थ गँवा दिया है। यह तो 'घर का बेटा भूखों मरे और पड़ोसी के लिए आटा' - जैसी बात है। अपने आत्मा को समझने की दरकार नहीं की है और पड़ोसी अर्थात् परवस्तु को जानने में तथा उसका अभिमान करने में रुक गया है।

यह जीव, अपने आत्मा की समझ तो करता नहीं है और मैं पर का भला कर दूँ - ऐसा मानता है। अरे भाई! परवस्तु में आत्मा का अधिकार चलता ही नहीं। शरीर में रोग हो तो उसके अभाव की इच्छा होने पर भी वह नहीं मिटता है और रोग लाने की इच्छा नहीं होने पर भी रोग होता है; इसलिए आत्मा की इच्छा पर में काम नहीं आती। आत्मा पर से भिन्न है; इसलिए आत्मा किसी दूसरे का भला अथवा बुरा नहीं कर सकता, फिर भी पर को अपना मानकर उसकी ममता करता है, इसी कारण जीव दु:खी है।

देखो, श्रीमद् राजचन्द्र सोलह वर्ष की युवा अवस्था में तो संसार का दु:खमय वर्णन करते हैं। यह संसार बहुत दु:ख से भरा है। कोई बड़ा राजा हो या सेठ हो, इससे उसे सुखी नहीं कहा गया है। जिन्हें शरीर से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा का भान नहीं है और पर की ममता करते हैं, वे सभी जीव इस संसार में महादु:खी हैं। राज्य, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र, मान-प्रतिष्ठा इत्यादि होने पर भी पर की ममता के कारण यह जीव दु:खी ही है। रोग अथवा निर्धनता का दु:ख जीव को नहीं है परन्तु अन्तर में अपना आत्मा सुख से भरपूर है, उसकी महिमा नहीं करके, पर की महिमा करके ममता करता है; इसीलिए दु:ख है। तात्पर्य यह है कि जीव का ममत्वभाव ही संसार है और ममत्वभाव का ही दु:ख है। परवस्तु में सुख अथवा दु:ख नहीं है। जीव परभव में जाए, तब शरीर आदि परवस्तुएँ तो यहीं पड़ी रह जाती हैं, वे जीव के साथ नहीं जातीं; जीव अपने ममत्वभाव को साथ लेकर जाता है। वह ममत्वभाव ही संसार है।

ज्ञानी-सन्त आत्मा को पहचानकर इस दु:खमय संसार से तिरकर पार होने का प्रयोजन साधते हैं और मोक्षदशा प्रगट करते हैं। आत्मा का परिपूर्ण सुख मोक्षदशा में प्रगट होता है। आत्मा के स्वभाव में सुख भरा है, उसे पहचानकर, उसमें एकाग्र होने से मोक्षदशा में वह सुख परिपूर्ण प्रगट होता है। जिस प्रकार चने में स्वाद भरा है, इसलिए उसे सेकने से वह स्वाद आता है और फिर उसे बोने पर वह उगता नहीं है; इसी प्रकार चैतन्यबिम्ब आत्मा में सुखस्वभाव भरा है, उसकी श्रद्धा और एकाग्रता के बल से मोक्षदशा में वह सुख प्रगट होता है और फिर उस आत्मा का अवतार अर्थात् जन्म-मरण नहीं होता। ऐसी मोक्षदशा प्रगट होने का अवसर इस मनुष्यपने में ही है।

पहले तो मनुष्यदेह में सत्समागमपूर्वक आत्मा की रुचि से आत्मा की पहिचान करे कि मैं शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ, ज्ञान-आनन्द से भरपूर हूँ; विकारभाव होते हैं, वह दु:ख है, वह मेरा स्वरूप नहीं है; किसी भी संयोग से मुझे सुख-दु:ख नहीं है। इस प्रकार भान करके फिर आत्मा में स्थिरता करने से राग-द्वेष का अभाव होकर मोक्षदशा का सुख प्रगट होता है। मोक्ष होने की योग्यता इस आत्मा में ही भरी है। शक्तिरूप से यह आत्मा ही परमात्मा है। '**अप्पा सो परमप्पा**' अर्थात् आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा है। उसका भान करके आत्मा स्वयं ही प्रगटरूप परमात्मा हो जाता है। यह सब इस मनुष्यभव में ही हो सकता है और इसीलिए ज्ञानियों ने मानवदेह को उत्तम कहा है।

प्रत्येक आत्मा, परमात्मा के समान सच्चिदानन्द की मूर्ति है। बाहर के देह में अन्तर है तथा वर्तमान अवस्था में अन्तर है परन्तु स्वभाव से तो सभी आत्माएँ प्रभु हैं। अपूर्णता कोई आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। जिस प्रकार स्वर्ण के सौ टुकड़ों पर अलग-अलग प्रकार के वस्त्र लपेटे हों, परन्तु अन्दर सोना तो सबमें एक समान ही है; इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न चैतन्यधातु का पिण्ड है, बाह्य में छोटा-बड़ा शरीर और वर्तमान क्षणिक अवस्था में अपूर्णता है, उसे लक्ष्य में नहीं लेकर त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण है। सिद्ध परमात्मा में जितनी सामर्थ्य है, उतनी ही सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में है परन्तु अज्ञानी जीव उसे

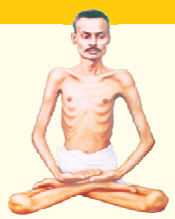

भूलकर शरीर और विकारभाव जितना ही अपने को मानता है; इसलिए संसार में परिभ्रमण करता है। ज्ञानीजन तो अपने परिपूर्ण आत्मस्वभाव की पहचान करके उसके आश्रय से मोक्ष प्राप्त करने का साधन करते हैं और संसार का पार पा जाते हैं।

आत्मा की पहचान करके मोक्ष प्राप्ति का साधन इस मनुष्यदेह में ही है, इसके अतिरिक्त दूसरी गति में आत्मा का भान हो सकता है परन्तु मोक्षदशा का पूर्ण साधन नहीं हो सकता। पुण्य करे तो स्वर्ग में जाए और पाप करे तो नरक में जाए तथा माया-कपट के भाव करे तो तिर्यञ्च में जाए; वहाँ कोई-कोई जीव, आत्मा का भान प्रगट करते हैं परन्तु मोक्षदशा प्राप्त होने योग्य पूर्ण पुरुषार्थ वहाँ नहीं हो सकता। यद्यपि शरीर के कारण मोक्षदशा नहीं रुकती, परन्तु वहाँ जीव की अपनी योग्यता ही उस प्रकार की होती है।

मोक्ष का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है। उसका परिपूर्ण प्रयत्न इस मनुष्यभव में ही होता है; इसलिए मोक्षदशा की प्राप्ति इस मनुष्यभव में ही होती है। ऐसा मनुष्यदेह प्राप्त करके भी मतिहीन अज्ञानी जीव, उसे विषय-भोगों में व्यर्थ गँवा देता है। इस सम्बन्ध में पण्डित श्री बनारसीदासजी कहते हैं कि -

'ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साज मतंगज ईंधन ढोवें,
कंचन भाजन धूल भरे शठ, मूढ सुधारस सौं पग धोवे।
वादिन काग उड़ावन कारण, डार महामणि मूरख रोवे,
त्यों ये दुर्लभ देह बनारसी, पाय अजान अकारथ खोवे।'

जिस प्रकार कोई मतिहीन और विवेकरहित मनुष्य, हाथी को विविध अलङ्कारों से शृङ्गार कराकर, उससे लकड़ियाँ उठवाता है तथा मूर्ख मनुष्य, सोने के थाल में धूल भरता है और मूढ़ जीव सुधारस को पीने के बदले, उससे पैर धोता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव यह दुर्लभ मनुष्यदेह प्राप्त करके व्यर्थ गँवाता है।

किसी मनुष्य पर राजा प्रसन्न हो गया और उसने एक सोने के आभूषण से शृङ्गारित हाथी पुरस्कार में दे दिया, परन्तु उस मूर्ख जीव ने तो हाथी का उपयोग

लकड़ियों के गठ्ठर उठाने में किया। वह स्वयं हाथी पर तो नहीं बैठता, किन्तु उससे गठ्ठर उठवाता है। इसी प्रकार मूढ़ अज्ञानी जीव भी यह दुर्लभ मनुष्यदेह पाकर आत्मार्थ साधने के बदले उसे व्यर्थ खोता है। उत्तम मानवभव प्राप्त करके, मूढ़ जीव अपने आत्महित का साधन नहीं करते और मैं पर का कल्याण कर दूँ – ऐसा व्यर्थ अभिमान करके मनुष्यभव हार जाते हैं।

मनुष्यपना प्राप्त करके बहुत धन संग्रहित हो, उससे कहीं आत्मा की महिमा नहीं बढ़ जाती और निर्धनपना होने से आत्मा की महिमा घट नहीं जाती। जिस प्रकार निर्धन और धनवान के जन्म और मरण का एक ही मार्ग है; इसी प्रकार धर्म का और मोक्ष का मार्ग भी समस्त जीवों के लिए एक ही प्रकार का है। धनवान को धर्म हो और निर्धन को नहीं हो – ऐसा नहीं है, क्योंकि सधनता और निर्धनता से धर्म नहीं होता, अपितु आत्मा का भान करने से धर्म होता है। निर्धन हो या धनवान, जो आत्मा का भान करता है, उसे ही धर्म होता है। देखो, मात्र मानवदेह से ही मोक्ष होता है, इस कारण इस मानवदेह को उत्तम कहा है।

'अब तुम पूछोगे कि सभी मानवों का मोक्ष क्यों नहीं होता? इसका उत्तर भी मैं कह दूँ। जो मानवता को समझते हैं, वे संसार सागर से पार हो जाते हैं। जिनमें विवेकबुद्धि का उदय हुआ हो, उनमें विद्वान् मानवता मानते हैं। उससे सत्यासत्य का निर्णय समझकर परम तत्त्व, उत्तम आचार और सद्धर्म का सेवन करके, वे अनुपम मोक्ष को पाते हैं।'

मोक्ष का साधन इस मानवभव में ही होता है परन्तु सभी मानवों को मोक्ष नहीं हो जाता। मनुष्यपने में भी जो विवेकबुद्धि अर्थात् स्व-पर का यथार्थ ज्ञान प्रगट करके आत्मा को समझते हैं, उन्हें ही मोक्ष होता है। जो सत्य और असत्य का निर्णय करके, परमतत्त्व को अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वभाव को समझते हैं तथा राग-द्वेषरहित आत्मा के निर्दोष स्वभाव में एकाग्रतारूप उत्तम आचरण का पालन करते हैं, वे ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

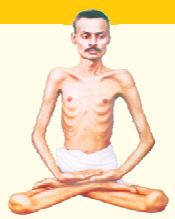

'मनुष्य के शरीर के देखाव से विद्वान् उसे मनुष्य नहीं कहते, परन्तु उसके विवेक के कारण उसे मनुष्य कहते हैं।'

आत्मा का निर्दोष स्वभाव क्या है और विकार क्या है ? इसका विवेक करनेवाला ही वास्तव में मनुष्य है परन्तु हाथ-पैर इत्यादि की आकृति से वास्तव में ज्ञानी, मनुष्यपना नहीं कहते। जिसे स्व -पर का विवेक नहीं है - ऐसे मानवपन को ज्ञानी उत्तम नहीं कहते। जिसने स्व-पर का विवेक प्रगट किया है, वही वास्तव में मनुष्य है और उसे ही ज्ञानीजन उत्तम कहते हैं। मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है तथा मुझसे भिन्न पदार्थ क्या हैं ? इसका जिसे विवेक नहीं है, उसे धर्म नहीं होता है।

अन्तर में स्व-पर का विवेक प्रगट किये बिना, मात्र दो हाथ, दो पैर, मुँह इत्यादि आकृति से ही मनुष्यपना नहीं समझना, क्योंकि यदि ऐसा मानोगे तो बन्दर को भी यह सब है; इसलिए उसे भी मनुष्य कहना पड़ेगा।

'जिसके दो हाथ, दो पैर, दो आँखें, दो कान, एक मुख, दो होंठ और एक नाक हों उसे मनुष्य कहना - ऐसा हमें नहीं समझना चाहिए। यदि ऐसा समझें तो फिर बन्दर को भी मनुष्य मानना चाहिए क्योंकि उसने भी तदनुसार सब प्राप्त किया है; विशेषरूप से उसके एक पूँछ भी है। तब क्या उसे महामानव कहें ? नहीं, जो मानवता समझे, वही मानव कहलाता है।'

देह से भिन्न आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझकर अन्तर में विवेक प्रगट करनेवाला ही मानव है। अमूल्य तत्त्वविचार में ही 'विवेक' सम्बन्धी पद श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है -

मैं कौन हूँ ? आया कहाँ से ? और मेरा रूप क्या ?
सम्बन्ध दुखमय कौन हैं ? स्वीकृत करूँ परिहार क्या॥
इसका विचार विवेकपूर्वक, शान्त होकर कीजिए।
तो सर्व आत्मिकज्ञान के, सिद्धान्त का रस पीजिए॥

मैं यह देह नहीं, किन्तु आत्मा हूँ। मैं नया नहीं हुआ हूँ; मैं तो अनादि का हूँ। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, रागादिभाव मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है। देहादि परवस्तुओं के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार अन्तर में आत्मा का विचार और विवेक प्रगट करनेवाला, वह जीव आत्मिकज्ञान के सर्व तत्त्वों का अनुभव करता है।

'ज्ञानी कहते हैं कि यह भव बहुत दुर्लभ है, अति पुण्य के प्रभाव से यह देह मिलती है; इसलिए इससे शीघ्र आत्मसार्थकता कर लेनी चाहिए।.....गजसुकुमार जैसे छोटे बालक भी मानवता को समझने से मोक्ष को प्राप्त हुए। मनुष्य में जो शक्ति विशेष है, उस शक्ति से वह मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राणी को भी वश में कर लेता है; इसी शक्ति से यदि वह अपने मनरूपी हाथी को वश में कर ले तो कितना कल्याण हो!'

जगत् में एकेन्द्रिय तथा चींटी इत्यादि की संख्या बहुत है और नारकी व देवों की संख्या भी बहुत है परन्तु मनुष्य बहुत कम हैं। मनुष्यदेह प्राप्त होना महाकठिन है; इसलिए ऐसी दुर्लभ मनुष्यदेह प्राप्त करके शीघ्र आत्मकल्याण कर लेना चाहिए। शरीर से भिन्न ज्ञानमूर्ति आत्मा का भान कर लेने में ही मानव जीवन की सार्थकता है। श्रीमद् राजचन्द्र ने स्वयं छोटी उम्र में यह रचना की है और इसमें वैराग्य के दृष्टान्त भी छोटी उम्र के राजकुमारों के दिये हैं। गजसुकुमार आदि राजकुमार छोटी उम्र में आत्मभान करके, संसार से वैराग्य प्राप्त करके मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं।

'किसी भी अन्य देह में पूर्ण सद्विवेक का उदय नहीं होता और मोक्ष के राजमार्ग में प्रवेश नहीं हो सकता; इसलिए हमें मिली हुई दुर्लभ मानवदेह को सफल कर लेना आवश्यक है।' अन्य तीन गतियों में सम्यग्ज्ञान हो सकता है परन्तु पूर्ण सद्विवेक अर्थात् केवलज्ञान तो मनुष्यपने में ही होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्ष का राजमार्ग है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान ही मोक्ष का कारण है और वह चारों गतियों में होता है परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र मोक्ष का राजमार्ग है अर्थात् साक्षात् मोक्षमार्ग है और वह इस मनुष्यभव में ही होता है - ऐसा दुर्लभ मनुष्य अवतार प्राप्त

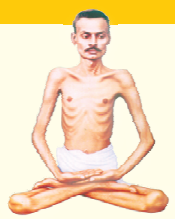

हुआ है; इसलिए जैसे बने वैसे, शीघ्रता से आत्मा की पहचान करके वीतरागमार्ग में सावधान होना चाहिए।

'...बहुत से मूर्ख दुराचार में, अज्ञान में, विषय में और अनेक प्रकार के मद में, मिली हुई मानवदेह को वृथा गँवा देते हैं। अमूल्य कौस्तुभ खो बैठते हैं। ये नाम के मानव गिने जा सकते हैं, बाकी तो वे वानररूप ही हैं।'

यह अमूल्य चिन्तामणि जैसी मनुष्यदेह प्राप्त करके, आत्मार्थ साधने के बदले कितने ही मूर्ख जीव, विषय-कषाय में जीवन गँवा देते हैं तथा कितने ही जीव आत्मा को समझे बिना क्रियाकाण्ड में रूककर अज्ञान ही अज्ञान में मनुष्यभव हार जाते हैं। यदि आत्मा का भान नहीं करे तो बन्दर के जीवन में और मनुष्य के जीवन में यहाँ कोई अन्तर नहीं माना गया है; इसलिए जैसे बने वैसे शीघ्र सत्समागम से आत्मा की पहचान करना और इस मनुष्यभव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का सेवन करना आवश्यक है। यही आत्महित का उपाय है। ●

[श्रीमद् राजचन्द्रजी कृत मोक्षमाला के पाठ - 4 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन]

आत्मस्वभाव में अभेददृष्टि ही ज्ञानियों को सम्मत

श्रीमद् राजचन्द्र के विशिष्ट वचनामृतों पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन

श्रीमद् राजचन्द्रजी एक पत्र में लिखते हैं कि ज्ञानियों ने सम्मत किया हुआ सब सम्मत करना। ज्ञानियों को क्या सम्मत है ? आत्मस्वभाव में अभेददृष्टि ही सर्व ज्ञानियों को सम्मत है। इसके अतिरिक्त किसी राग से धर्म होता है अथवा शरीर की क्रिया आत्मा करता है, यह बात किसी ज्ञानी को सम्मत नहीं है।

'अनन्त काल से अपने को, अपने सम्बन्ध में ही भ्रान्ति रह गयी है।' यह श्रीमद् का तेईसवें वर्ष का लेख है। आत्मा अनन्त काल से है और इस शरीर का सम्बन्ध नया हुआ है किन्तु आत्मा नया नहीं होता। आत्मा स्वयं कौन है ? – इस बात का उसे अनन्त काल से पता नहीं है। मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है ? – इस सम्बन्ध में ही भ्रान्ति रह गयी है। मानो मेरा सुख बाहर में हो – ऐसा यह मानता है; इसलिए अपने विषय में ही भ्रान्ति है। देखो ! देव-शास्त्र-गुरु के विषय में भ्रान्ति रह गयी है – ऐसा नहीं कहा है, क्योंकि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को माना है परन्तु अपने आत्मा के विषय में रही हुई भ्रान्ति का अभाव नहीं किया है। देखो, पर के विषय में भ्रान्ति रह गयी है – ऐसा भी नहीं कहा गया है परन्तु स्व कौन है ? इस विषय में भ्रान्ति रह गयी है।

यह जीव, निज आत्मा को भूलकर पर से लाभ मान रहा है; इसलिए उपादानस्वभाव में भ्रान्ति रह गयी है किन्तु निमित्त में भूल रह गयी है – ऐसा नहीं है। दूसरे प्रकार से कहें तो व्यवहार के सम्बन्ध में तो भूल का अभाव किया, किन्तु आत्मा का स्वभाव क्या है ? यह नहीं जाना; इसलिए निश्चय सम्बन्धी भूल का कभी अभाव नहीं किया। अज्ञानी जीव, पुण्य को आत्मा का स्वरूप माने तो वह भी आत्मा के विषय में भ्रान्ति है। जीव ने अनन्त काल में दूसरा सब किया है परन्तु आत्मा का स्वभाव क्या है ?

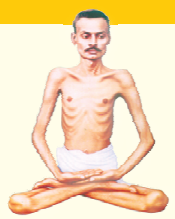

– इस विषय में भ्रान्ति का अभाव कभी नहीं किया; इसलिए अपने विषय में ही भ्रान्ति रह गयी है।

स्वयं अर्थात् कौन? देखो, अपने को विकारवाला माना – यह भी भ्रान्ति है क्योंकि आत्मा, क्षणिक विकार जितना नहीं है; उसका स्वभाव तो विकाररहित है, उस स्वभाव के विषय में भ्रान्ति रह गयी है। जीव ने अनन्त बार शुभभाव किया है किन्तु भ्रान्तिरहित होकर शुद्धात्मा को कभी नहीं जाना है।

यह एक अवाच्य अद्भुत विचार का स्थल है। वाणी से नहीं कहा जा सके – ऐसा अद्भुत विचार का यह स्थल है। यहाँ आत्मस्वभाव के विचार की अपूर्वता बतलायी जा रही है। ऐसा क्या बाकी रह गया कि अनन्त-अनन्त काल व्यतीत होने पर भी भ्रान्ति का अभाव नहीं हुआ? अनन्त काल में त्याग-व्रत इत्यादि किया, परन्तु आत्मस्वभाव की विचारधारा का स्थल बाकी रह गया। अपने को अपने विषय में क्या भ्रान्ति रह गयी? – यह एक अद्भुत विचार का स्थल है।

भाई! जीव, दूसरे सब विचारों में तो चतुराई करता है परन्तु आत्मा का यथार्थ विचार कभी नहीं करता। पहले आत्मस्वभाव की बात करके फिर उसके निमित्त भी बतलायेंगे और अनन्त काल की यह भ्रान्ति कैसे मिटे? – उसका उपाय भी बताएँगे।

'जहाँ मति की गति नहीं है, वहाँ वचन की गति कैसे हो सकती है?' यहाँ मति अर्थात् पर सन्मुख ढला हुआ ज्ञान। पर तरफ के विकल्प द्वारा भी जो आत्मा को नहीं बतलाता, उस आत्मा को वाणी से तो कैसे कहा जा सकता है? मति अर्थात् पर तरफ के ज्ञान का उघाड़ अथवा पर तरफ के झुकाववाला ज्ञान – ऐसा अर्थ यहाँ समझना चाहिए। सम्यक्मतिज्ञान द्वारा तो आत्मा ज्ञात होता है परन्तु परसन्मुखता के झुकाववाले ज्ञान के विकास से आत्मा ज्ञात नहीं होता है। इस प्रकार पहले तो उपादानस्वभाव की बात की और अब, अनन्त काल से चली आ रही उस भ्रान्ति को मिटाने के लिए अन्तर-स्वभावसन्मुख झुकने के लिए क्या करना चाहिए? – यह बात कहते हैं।

'निरन्तर उदासीनता के क्रम का सेवन करना।' देखो, यहाँ 'निरन्तर' कहा है। जैसे, बादाम में से तेल निकालना हो तो उसे निरन्तर घिसना चाहिए। थोड़ी से घिसकर फिर दूसरे काम में लग जाए और फिर घिसने लगे; इस प्रकार क्रम-क्रम से घिसे तो तेल नहीं निकलेगा। इसी प्रकार यहाँ निरन्तर उदासीनता के क्रम का सेवन करने के लिए कहा है। पर के प्रति कुछ रुचि घटे, तब तो अन्तर के विचार की ओर ढलेगा न! पर के प्रति वैराग्यदशा लाकर अन्तर की विचारधारा में निरन्तर रुकना चाहिए।

यहाँ निरन्तर पर के प्रति उदासीनता का सेवन करने के लिए कहा तो क्या खाना-पीना इत्यादि कुछ नहीं करना? यदि ऐसा कोई पूछे तो उससे कहते हैं कि भाई! जिस प्रकार व्यापार का लोलुपी जीव सो रहा हो या खा रहा हो, परन्तु साथ ही साथ उसे लोलुपता का भाव तो पड़ा ही है; इसी प्रकार धर्म की रुचिवाले को नींद में भी पर के प्रति उदासीनता का भाव मिटता नहीं है। धर्म की रुचिवाला उदासीनता के क्रम में भङ्ग नहीं पड़ने देता; खाना-पीना अथवा व्यापार इत्यादि का राग वर्तता होने पर भी अन्तर की रुचि में उसके प्रति उदासीनता एकक्षण के लिए भी नहीं मिटती है।

अब, भ्रान्ति टालने के निमित्त की पहचान कराते हुए कहते हैं कि **'सत्पुरुष की भक्ति के प्रति लीन होना।'** पहले, सत्पुरुष कौन है? - यह पहचानना चाहिए। देखो, पहचान की जिम्मेदारी स्वयं की है। सत्पुरुष किसे कहा जाता है? यह जानने का स्वयं का भाव है। अरे! दो पैसे का घड़ा लेने जाएँ तो भी ठोक-बजाकर परीक्षा करते हैं तो अनन्त काल की भ्रान्ति मिटाकर आत्मा का कल्याण प्रगट करने के लिए सत्पुरुष की परीक्षा करके पहचानना तो चाहिए। सत् अर्थात् आत्मस्वभाव; जिन्हें आत्मस्वभाव की पहचान हुई है, वे सत्पुरुष हैं। संसार के प्रति निरन्तर उदास होना और सत्पुरुष की भक्ति के प्रति लीन होना, यह दो बातें कही गयी हैं।

अब, विशेष कहते हैं - **'सत्पुरुषों के चरित्रों का स्मरण करना।'** पहले

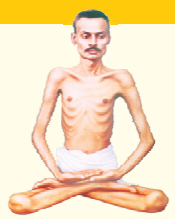

जिसका ज्ञान किया हो, उसका स्मरण किया जा सकता है। सत्पुरुष का चरित्र किसे कहा जाता है ? इसके ज्ञान बिना उनका स्मरण किस प्रकार किया जा सकता है ? सत्पुरुष का चरित्र कहाँ रहता होगा ? किसी बाहर की क्रिया में अथवा शुभाशुभराग में सत्पुरुषों का चरित्र नहीं है। बाहर में परिवर्तन न दिखने पर भी धर्मी की अन्तरदशा में रुचि का झुकाव स्वभावसन्मुख हो गया है। जिस प्रकार छोटे हीरे की कीमत लाखों रुपये होती है, उसे जौहरी ही जानता है; इसी प्रकार आत्मा का चरित्र अन्तरदृष्टि से ही पहचाना जाता है।

धर्मी आत्मा का चरित्र क्या ? वह शरीर की दशा में अथवा वस्त्र में नहीं है। आहारशुद्धि में अथवा वस्त्र के त्याग में भी चारित्र नहीं है, वह सब तो अज्ञानी को भी होता है। सत्पुरुष के अन्तर में क्या भेद पड़ गया है ? – यह जाने बिना उनके चरित्र का ज्ञान नहीं होता। सत्पुरुष का आन्तरिक चारित्र क्या ? 'अमुक गाँव में रहते थे और जवाहरात का व्यापार करते थे, जिज्ञासुओं को पत्र लिखते थे अथवा उपदेश देते थे' – क्या इसमें सत्पुरुष का चरित्र है ? यह सब तो बाह्य वस्तुएँ हैं, इनमें सत्पुरुष का चरित्र नहीं है परन्तु अन्तर के स्वभाव को जानकर वहाँ स्थिर हुआ है और रागादिभावों की रुचि मिट गयी है, यही सत्पुरुषों का चरित्र है। उसे पहचानने पर ही उसका वास्तविक स्मरण होता है।

और कहते हैं कि **'सत्पुरुषों के लक्षणों का चिन्तवन करना'** 'ऐसी भाषा थी और ऐसा शरीर था' – इस प्रकार शरीर के लक्षणों से सत्पुरुष नहीं पहचाने जाते। अन्तरस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता ही सत्पुरुष का लक्षण है। बाहर में त्याग हुआ अथवा शुभराग हुआ, वह सत्पुरुष का वास्तविक लक्षण नहीं है। जो शरीर दिखता है, वह देव-गुरु नहीं है, वह तो जड़ है; देव अथवा गुरु तो आत्मा हैं और अन्तर में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रस्वरूप, वही उसका लक्षण है; उस लक्षण द्वारा सत्पुरुष को पहचानने से अपना आत्मा भी वैसा होता है।

लक्षण उसे कहते हैं कि जिसके द्वारा लक्ष्य की पहचान होती है। सत्पुरुष में ऐसा क्या लक्षण है कि जो दूसरों में न हो और उनमें ही हो ? सत्पुरुष की आन्तरिक श्रद्धा-ज्ञान ही उनका लक्षण है; रागादि होते हैं, वह सत्पुरुष का लक्षण नहीं है। इस प्रकार लक्षण से सत्पुरुष को पहचानकर उसका चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार अन्तर की बात करके, अब बाह्य की बात करते हैं। **'सत्पुरुषों की मुखाकृति का हृदय से अवलोकन करना, उनके मन-वचन-काया की प्रत्येक चेष्टा के अद्भुत रहस्य पुनः-पुनः निरीक्षण करना।'** शरीर-मन-वाणी की क्रिया तो जड़ है परन्तु उसके पीछे अनाकुलस्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान है, उसका अद्भुत रहस्य है। मन-वचन-काया की जो प्रवृत्ति होती है, उसका कर्तापना धर्मी को मिट गया है। धर्मी को उनमें कभी सुखबुद्धि नहीं होती और कभी भेदज्ञान का अभाव नहीं होता – ऐसा ज्ञानी का अद्भुत रहस्य है, वह बारम्बार विचारणीय है। सत्पुरुष की मुखाकृति का हृदय से अवलोकन और बारम्बार उनके समागम की भावना में स्वयं को सत् समझने की रुचि है।

अब कहते हैं कि **'उनका सम्मत किया हुआ, सब सम्मत करना।'** ज्ञानियों ने क्या सम्मत किया है ? आत्मा के स्वाश्रय के अतिरिक्त तीन काल में धर्म नहीं है अर्थात् स्वाश्रयभाव ही ज्ञानी को सम्मत है। पर का आश्रय करना, वह ज्ञानी को सम्मत नहीं है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव, रागरहित है; उसकी रुचि, उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसका आश्रय करना ही ज्ञानियों को सम्मत है। इस प्रकार पहचानकर ज्ञानियों के द्वारा सम्मत किया हुआ सब सम्मत करना।

शुभ अथवा अशुभरूप किसी भी पराश्रितभाव से आत्मा को धर्म होता है – ऐसी मान्यता ज्ञानियों को सम्मत नहीं है। जिस भाव से आत्मा को हानि होती है, वह एक भी भाव, ज्ञानी को सम्मत नहीं होता। ज्ञानी को आत्मा का विकाररहित स्वभाव ही सम्मत है।

देखो, एक ज्ञानी एक मार्ग बतलाये, दूसरा ज्ञानी दूसरा मार्ग बतलाये – ऐसा कभी नहीं होता। सभी सत्पुरुषों का एक ही मार्ग है। वह यह कि आत्मस्वभाव को

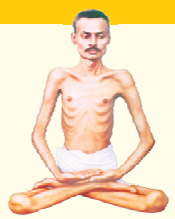

पहचानकर, उसका आश्रय करना ही मुक्ति का पन्थ है और इसी मार्ग में समस्त ज्ञानियों की सम्मति है; इस प्रकार पहचानकर ज्ञानियों के द्वारा सम्मत किया हुआ, सर्व सम्मत करना चाहिए।

ज्ञानी के समीप सत् का श्रवण करते हुए जितना अपने को रुचे उतना मान ले और दूसरी बात नहीं रुचे तो उस जीव ने ज्ञानियों के द्वारा कहा हुआ सर्व सम्मत नहीं किया है किन्तु अपने स्वच्छन्द का पोषण किया है। देव-गुरु-शास्त्र के आश्रय से होनेवाले पुण्यभाव का आश्रय करना धर्मी को मान्य नहीं है, अपितु उसका आश्रय छोड़ना ज्ञानियों को मान्य है।

ज्ञानियों द्वारा मान्य किया हुआ सर्व मान्य करना। उसमें यदि कहीं अपनी कल्पना का स्वच्छन्द रखा तो उसने ज्ञानियों को पहचाना ही नहीं और न उनका कहना माना है। जीव ने अभी तक अपनी भ्रान्ति से ही अर्थात् अपनी दृष्टि से ही ज्ञानी को पहचाना है। यदि ज्ञानी को ज्ञानी के प्रकार से पहचाने तो उसे भेदज्ञान और मुक्ति हुए नहीं रह सकती है। ज्ञानी की पहचान करने में पर की महिमा नहीं, किन्तु अपने आत्मा की महिमा है। पहले तो अनन्त काल से आत्मा की भ्रान्ति रह गयी है - ऐसा पहचानना और फिर ऊपर कहे अनुसार, पात्र होकर सत्पुरुष को पहचानना; इससे अवश्य आत्मा की भ्रान्ति मिट जाएगी।

ज्ञानी यह नहीं कहते कि तू हमारा आश्रय करके रुक जा! ज्ञानी के हृदय का रहस्य तो यह है कि तू अपने आत्मा को सिद्ध समान परिपूर्ण स्वभावरूप पहचानकर उसका आश्रय कर! सभी धर्मात्माओं ने यही सम्मत किया है और यही सम्मत करने योग्य है अर्थात् उत्साहपूर्वक माननेयोग्य है।

'यह ज्ञानियों ने हृदय में रखा हुआ निर्वाण के लिए मान्य रखने योग्य, पुनः-पुनः चिन्तवन योग्य, प्रति क्षण-प्रति समय लीन होने योग्य परम रहस्य है और यही सर्व शास्त्रों का, सर्व सन्तों के हृदय का, ईश्वर के घर का मर्म पाने का महामार्ग है।' देखो तो सही, कितनी दृढ़तापूर्वक बात की है! धर्मी जीवों ने जो मान्य किया है, वही मान्य

रखना, यह परम रहस्य है। धर्मी जीवों ने क्या मान्य किया; किसका ग्रहण और किसका त्याग किया ? – यह पहचाने बिना स्वयं उसकी श्रद्धा किस प्रकार करेगा और उसका चिन्तवन भी किस प्रकार करेगा ?

ज्ञानियों को भलीभाँति पहचानकर, उनके मानने अनुसार आत्मा के वीतरागी स्वभाव का आश्रय करना; सर्व शास्त्रों का और सर्व सन्तों के हृदय का मर्म प्राप्त करने का यह एक ही मार्ग है। निर्वाण के लिए अर्थात् आत्मा की मुक्ति के लिए मान्य करने योग्य यही महामार्ग है तथा ईश्वर के घर का अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के मार्ग का अथवा आत्मा के स्वभाव का मर्म प्राप्त करने का यह महामार्ग है, यह आत्मा के परमपद प्रगट होने का महामार्ग है।

अब, निमित्तपने की बात करते हैं – **'और इन सबका कारण किसी विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति और उनके प्रति अविचल श्रद्धा है। अधिक क्या लिखना ? त्रिकाल यह एक ही मार्ग है।'** इस प्रकार वजनपूर्वक कहते हैं कि भाई ! तुझे अपने स्वरूप की ही भ्रान्ति है, उस भ्रान्ति का अभाव किये बिना छुटकारा नहीं है और उस भ्रान्ति का अभाव करने के लिए ज्ञानियों ने जो सम्मत किया है, वही सम्मत करना – यही मार्ग है। यह मार्ग सूझने पर ही सर्व सन्तों के हृदय को पाया जा सकता है तथा यहाँ विद्यमान पुरुष की प्राप्ति होने की बात कही गयी है; पूर्व में हो गये सत्पुरुष नहीं, परन्तु अपने को साक्षात् विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति हो और उनके वचन का सीधा श्रवण करते हुए, उनके प्रति अविचल श्रद्धा जागृत हो तो जीव का हित होता है। यह समझे बिना सत्पुरुष को मानने की बात नहीं है परन्तु सत्पुरुष को पहचानकर जैसा वे कहते हैं, वैसे निरालम्बी निज आत्मस्वभाव की पहचान करनेवाले ने सन्तों के द्वारा माना हुआ, माना कहलाता है और यही जिनवाणी का मार्ग है।

अन्त में स्वयं को शामिल करते हुए कहते हैं कि **'सर्व प्रदेशों से मुझे तो यही सम्मत है!'** आत्मा के असंख्य प्रदेश में मुझे तो यही मान्य है। ●

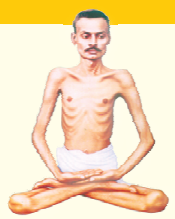

महिमावन्त सत्समागम एवं सत्पुरुष

(श्रीमद् राजचन्द्र जन्म-जयन्ती प्रवचन
संवत् १९९६ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा, समाधिमन्दिर, राजकोट, दिनांक २५.११.१९३९)

आज श्रीमद् राजचन्द्रजी का जन्मदिन है। आज का दिन रविवार परम मांगलिक है और पूर्णिमा है। श्रीमद्जी की जयन्ती है। दूसरी बात, हजारों वर्ष पुराना जो सर्वोच्च ग्रन्थाधिराज 'धवल', 'षट्खण्ड आगम' जिसके दर्शन करने हजारों लोग जाते थे और जिसमें सनातन जैनधर्म का रहस्य है, उस शास्त्र के दर्शन आज आनन्दनिकेतन में हुए। इसमें प्रथम 'सिद्ध' लिखा है। समयसार में भी रविवार आया था। समयसारजी के दर्शन भी रविवार को हुए थे और समयसारजी की स्थापना भी रविवार को हुई है।

श्रीमद्जी की देह के समागम में बहुत लोग आये होंगे किन्तु उनके सत्समागम में कोई विरला ही होगा। यहाँ प्रथम मांगलिक कहें।

अहो! श्री सत्पुरुष के वचनामृतं जगहितकरम्,
मुद्रा अरू सत्समागम सूती चेतना जागृतकरम्।

सम्प्रदाय का आग्रह छोड़कर मध्यस्थतापूर्वक सुनना, यह हित की बात है। श्रीमद्जी के समागम में बहुत लोग आये थे, उनमें से एक भाई सम्प्रदाय की ओर झुकाववाले एवं मूर्तिपूजा के विरोधी थे किन्तु कुछ सरल थे। उनके गुरु एवं अन्य लोग श्रीमद्जी की निन्दा करते थे। यह सुनते ही उन्हें अन्दर से (नाभि में से) नाद आया कि 'अरे! आप इस पवित्र पुरुष की निन्दा मत करना। मैंने उनको एक बार 'लींबडी' (नगर) में देखा था; महावैरागयवन्त थे, वास्तव में धर्म की मूर्ति थे। वे सत्पुरुष हैं, उनकी निन्दा मत करना। जैसे भीतर में अत्यधिक, अत्यन्त दर्द हो रहा हो, ऐसी आवाज

सहज आयी। उन्होंने कहा कि उस महादेव की, मियाँ के साथ तुलना मत करना। उनकी मुद्रा में जो वैराग्य मैंने देखा है, वैसा वैराग्य मैंने किसी साधु में नहीं देखा।' देखो! ये उनके शब्द! उनको श्रीमद्जी की परीक्षापूर्वक श्रद्धा नहीं थी, फिर भी भीतर से सत् की हकार-हाँ आयी और झूठ का निषेध आया। व्यक्ति के पास मध्यस्थदृष्टि हो तो ही सच्ची परीक्षा कर सकता है। अन्तर की गहराई से उस वृद्ध सज्जन को सहज, धारणा बिना, नाभि में से आवाज आयी कि मैं उनकी निन्दा सुन नहीं सकता। नाभि में से पुकार-रटे बिना, धारणा बिना सहज गूँज उठी थी। सत्पुरुष प्रति का आदर अर्थात् सत् का आदर क्या सूचित करता है ? वह बताता है कि 'उस पुरुष में कोई महान, पवित्र योगबल रहा है कि जिनके स्मृति प्रसंग सुनते ही मुमुक्षु को अति प्रमोद, आनन्द उपजता है।' फिर भी पंचम काल है, इसलिए कोई निन्दक कहते हैं कि अपनी पूजा हेतु लिखा है। अरे रे! ऐसे मतार्थी लोग मताग्रह के वश होकर, मिथ्याग्रह को पकड़ते हैं। महामोह के वश होकर सत् का निषेध करके, अपने लिये बोधिदुर्लभता बढ़ाते हैं। यहाँ पर जन्म-जयन्ती का जो मांगलिक है, जो लोकोत्तर मांगलिक कहना है—उस आधार से श्रीमद् राजचन्द्रजी के हृदय में क्या था, यह मुमुक्षुजन समझ लेंगे।

'अहो! श्री सत्पुरुष के वचनामृतम् जगहितकरम्।' एक बार भी प्रत्यक्ष सद्गुरु के भाववचनों का श्रवण करके अन्तर में उतारकर, अन्तर में गहरायी से सहज हाँ आयी और बोधिबीज का अन्तर में (स्वरूप में) टच हुआ; उसे संसार नहीं रह सकता। ज्ञानी मिले, उसे भव नहीं होते, भव का भाव नहीं होता। इसकी गवाही कौन देगा ? अन्दर से भरोसा आता है, किसी से पूछने नहीं जाना पड़ता। '**भृंगी ईलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे।**' पिल्लू को भ्रमरी डंकती है; इसके डंक के स्मरण में, यह क्या है, यह क्या है ?—ऐसी अभिलाषा रहने से वह स्वयं भ्रमरी (भौंरी) बन जाती है; कलेवर को और भव को पलटा देती है। इसी प्रकार चैतन्य भगवान आत्मा अपने आप को भूलकर परभाव में अपना अस्तित्व भूल से मान बैठा है। वह यदि सत्पुरुष के लक्ष्य से एक वचन

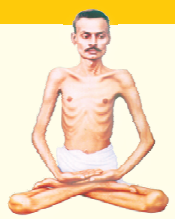

की भी यथार्थ गुंजार से साथ अन्तरखोज में उतरे तो उसे भगवान त्रिलोकनाथपना (सिद्धपद) प्राप्त हुए बिना रहेगा नहीं। ज्ञानी के एक वचन को जीव ने यदि यथार्थतापूर्वक समझ लिया तो आत्मा द्वारा, आत्मा में से सत् का हकार-हाँ आयेगी ही। साथ में परद्रव्य, परभाव की नास्तिपूर्वक शुभाशुभबन्ध का भी निषेध हो जाता है। जो सत्पुरुष देह होने पर भी देहातीतदशा में रहते हैं, उनके दर्शनमात्र से भी दर्शन करनेवाले की दृष्टि में से पूरा संसार नष्ट हो जाता है। श्रीपद्मनन्दि आचार्य महाराज कहते हैं कि :—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥

अहो! शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश ज्ञानी के मुख से जिस जीव ने प्रसन्नचित्त से सुना कि 'सभी आत्मा अबन्ध, असंग, स्वाधीन, चिदानन्दस्वरूप हैं' और इसमें निहित वाच्य को जिस जीव ने ग्रहण किया, वह जीव भावि निर्वाण का भाजन है।

'अहो! श्रीसत्पुरुष के वचनामृतं जगहितकरं।' सत्पुरुष, सद्गुरु का जिसे लक्ष्य हुआ, उसे सद्गुरु और उनकी उपकारी वाणी का बहुमान विद्यमान है। अत: वे कहते हैं कि जगत का हित इस अपूर्ववाणी से ही है; सन्मार्ग का अन्य कोई उपाय नहीं है। जिस जीव ने अन्तर में भाववचनों का गहराई से आदर किया, उसको ही सत्पुरुष का मिलना सार्थक है। देह के दर्शन तो अनन्त बार हुए परन्तु जिस दर्शन से सत्पुरुष की प्रतीति हो, वही दर्शन सच्चा है; उसे ही सत्पुरुष एव उनके वचनामृत का सफलपना है। सत्पुरुष की मुद्रा कैसी है? बिना बोले सौम्यता, वीतरागता का ही दर्शन करा रही है; जो परम उपशमरसभर वैराग्यमूर्ति हैं। अन्दर में से स्वभाव प्रगट हुआ, इसलिए देह की मुद्रा भी वैसी ही प्रगट होती है। जिस मुद्रा के दर्शन अन्तरभाव से होने पर आत्मा का दर्शन प्रगट हो, उस प्रकार का भाव कैसा अपूर्व होगा, किस जाति का होगा?—यह समझना।

तीर्थंकर भगवान की देह परम औदारिक, स्फटिकरत्न—जैसी हो जाती है और निकटता से उनके दर्शन करनेवाले को जातिस्मरणज्ञान होता है और सात भव दिखते हैं,

ऐसे प्रभु के जन्मदिन को महाकल्याणक कहा जाता है। जिन्हें तीन लोक के नाथ की पदवी मिली है, उनका परमकल्याणक जन्म-उत्सव इन्द्र करते हैं और तीनों लोक में प्रकाश होता है। दो घड़ी के लिये नरक के दु:खी जीवों को भी साता उपजती है। उस प्रकार **जिन्होंने इस पंचम काल में सद्धर्म की घोषणा की और स्वयं ने अनन्त भव का अन्त करके, एक ही भव बाकी रहे—ऐसी पवित्र दशा आत्मा में प्रगट की, ऐसे पवित्र पुरुष का अति-अति बहुमान होना चाहिए। उनके जन्मदिन की आज जयन्ती है; धन्य है उनको! मैं निश्चितरूप से कहता हूँ कि गुजरात-काठियावाड़ में (सौराष्ट्र में) वर्तमान काल में मुमुक्षु जीव को परम उपकारी कोई हैं तो वे श्रीमद् राजचन्द्रजी हैं। गुजराती भाषा में 'आत्मसिद्धि' लिखकर जैनशासन की शोभा में अभिवृद्धि की है। इस काल में उनके समान महत्-पुरुष मैंने देखे नहीं हैं। उनके एक-एक वचन में गहरा रहस्य है। वह सत्समागम के बिना समझ में आये, ऐसा नहीं है। उन्होंने एक ही मुख्य बात की है कि आत्मा की पहचान बिना चाहे जो करो परन्तु भव कम नहीं होंगे। आत्मा को समझे बिना किसी काल छुटकारा नहीं है।**

आज, कल, लाख-करोड़ वर्ष के बाद या उससे पहले तो इस तत्त्व को समझने पर, इसकी श्रद्धा करने पर ही छुटकारा है। **श्रीमद्जी का जीवन समझने के लिये मताग्रह से, दुराग्रह से दूर रहकर, उनके पवित्र जीवन को मध्यस्थतापूर्वक देखना चाहिए; ज्ञानी की विशाल दृष्टि के न्याय से सोचना चाहिए। उनकी भाषा में अपूर्व भाव भरे हैं; उसमें वैराग्य, उपशम, विवेक, सत्समागम सब कुछ हैं। बालक से लेकर आध्यात्मिक सत्स्वरूप की पराकाष्ठा तक की पहुँचवाले अत्यन्त गहन न्याय, गम्भीर अर्थ उनके लेख में हैं। व्यवहारनीति से लेकर पूर्ण शुद्धता, केवलज्ञान तक के आसार उसमें है; ज्ञानबल के किसी अपूर्वयोग से ये लिखे गये हैं। उनके अन्तर में वीतराग शासन की प्रभावना हो, सनातन जैनधर्म जयवन्त रहे—इसके लिये निमित्त होने की भावना अन्तर की गहराई में थी।** परन्तु उस समय में मताग्रही लोगों की गुटबन्दी बहुत थी और गृहस्थभेष होने के कारण उनके पास जाने में और परमार्थ पाने में बाह्यदृष्टि जीवों को अपने पक्ष का आग्रह विघ्नरूप हुआ है।

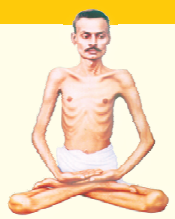

श्रीमद्जी को उस समय के द्रव्य, क्षेत्र, काल की खबर थी, इसलिए वे बहुत प्रकाश में (प्रसिद्ध में) आये नहीं। उन्होंने कहा कि मेरे लेख, मेरा शास्त्र मध्यस्थ पुरुष ही समझ पायेंगे, सोच सकेंगे। महावीर प्रभु के किसी भी एक वाक्य को यथार्थतापूर्वक समझो, शुद्ध अन्त:करण के बिना वीतराग के वचनों की कद्र कौन करेगा ? ये सब उनके अन्तर के उद्गार थे।

आजकल श्री समयसारजी परमागमशास्त्र पढ़ा जा रहा है। उसकी प्रभावना करनेवाले भी श्रीमद् राजचन्द्रजी थे। अपनी मौजूदगी में ही उन्होंने परमश्रुत प्रभावक मण्डल की स्थापना की। उनका उद्देश्य महान आचार्यों के आगम, शास्त्र संशोधित करके छपवाने का था। उस मण्डल ने उन्नीस वर्ष पूर्व एक हजार समयसारजी शास्त्र, आचार्यवर कुन्दकुन्द भगवानरचित महासूत्र छपवाये। वह शास्त्र (हस्तलिखित) जब सर्व प्रथम (लींबड़ी नगर में) उनके हाथ में आया, तब दो पृष्ठ पलटते ही रुपयों से भरी थाली मँगवायी। जिस प्रकार हाथ में हीरा आ जाए, उसकी परीक्षा जौहरी करे; उस प्रकार जिनशासन के रहस्यरूप श्री समयसारजी हाथ में आते ही पूर्व के संस्कारों का अपूर्वभाव उल्लसित हुआ और इस अपूर्व परमागम शास्त्र लानेवाले भाई को श्रीमद्जी ने अंजलि भरकर रुपये दिये। यह पुस्तक प्रकाशित हो, ऐसी उनकी विशेष इच्छा थी। इस प्रकार १९ वर्ष पूर्व श्री समयसारजी की प्रभावना उनके द्वारा हुई।

इस परमागम शास्त्र का लाभ वर्तमान में काठियावाड़ (प्रदेश) में प्रचुर मात्रा में लिया जा रहा है। इस समयसारजी के कर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर (नग्न) महासमर्थ मुनि थे। वे इस काल में स्वयं महाविदेहक्षेत्र में, साक्षात् त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान सीमन्धर प्रभु के पास गये थे। वहाँ उन्होंने आठ दिन तक समवसरण (धर्मसभा) में भगवान की वाणी सुनी। वहाँ से आकर समयसार ग्रन्थ की श्लोकबद्ध रचना की। उस समयसार शास्त्र की इस काल में प्रथम प्रसिद्धि करनेवाले श्रीमद् राजचन्द्रजी हैं; अत: उनका अनन्त उपकार है। इसका लाभ वर्तमान में बहुत से भाई-बहिन ले रहे हैं, यह श्रीमद्जी का ही उपकार है। वर्तमान में उसकी दो हजार प्रति गुजराती में प्रकाशित हो रही हैं। इसका लाभ लेनेवाले के लिये श्रीमद्जी ही उपकारी माने जायेंगे।

इस मंगलाचरण में ही सम्यग्दर्शन के आसार हैं। इसमें सत्पुरुष की प्रतीति और उनके सदुपदेशरूप वचनामृतों का बहुमान है। तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि अनन्त उपकारी है। सभी के लिये हितकारी है तथा मुनिराज की मुद्रा शान्त, स्थिर और वीतरागी होती है।

अब, सत्समागम का अर्थ बताया जा रहा है। सत् जिसका श्रवण है, सत् जिसका विचार है, सत्संग का जिसे प्रेम है—उसे 'सुषुप्त चेतना जागृतकरम्' होता है। अनादि काल के अज्ञान अन्धकार में, मोहनिद्रा में सोये हुए चेतन आत्मा को स्वरूप में जागृत करनेवाला है। जिस प्रकार मुरली की धुन में सर्प डोलता है; उसी प्रकार आत्मा की बात सुनते ही मुमुक्षु के हृदय डोल उठते हैं। सुषुप्त चेतना किसकी जागृत होवे ? पात्र होवे उसकी। सत्समागम हो और आत्मज्ञान न होवे, ऐसा नहीं बनता। पारसमणि जंगवाली डिब्बी में हो, तो जंग लोहे का स्पर्श होने नहीं देगा; उसी प्रकार यदि जीव में स्वयं में पात्रता न होवे तो सत्समागम या सद्गुरु क्या करें ?

'सद्गुरु मिले पर ज्ञान हुआ नहि, विमल हुई नहि वाणी'—इस न्याय से जब तक अपनी तैयारी न हो, तब तक साक्षात् सर्वज्ञ भगवान के दर्शन से या वाणी से भी क्या उपकार होवे ? दोनों का एक सा योग बने, अर्थात् सत्पुरुष एवं योग्य जीव का योग हो तो ही लाभ होवे परन्तु अपने को गुण प्रगट न हो, इसमें ज्ञानी पुरुष का या अन्य किसी का दोष नहीं है। जब तक जीव को सत्पुरुष की पहचान हुई नहीं है, तब तक उसने देह के दर्शन किये हैं; जड़ पुद्गल के दर्शन किये हैं। इसका कारण अपनी ही भूल है, स्वच्छन्द है। सत्समागम का बलवान उपकारीपना बहुत ज्यादा है। उनके पत्रों में देखोगे तो विशिष्ट शब्दों के पहले सत् प्रत्यय लगाया हुआ दिखेगा; जैसे कि सत्कथा, सद्धर्म, सत्शास्त्र, सद्ग्रन्थ, सद्वर्तन, सत्श्रुत, सद्विचार, सत्पुण्य, सन्मार्ग, सत्पुरुष, सद्देव, सद्गुरु, सत्समागम और सद्गुरु के आश्रय की यथार्थता बतायी है। स्वच्छन्द त्याग एवं गुरुआज्ञा इत्यादि पढ़कर कोई माने कि इसमें पराधीनता—जैसा लगता है तो ऐसा नहीं है। सत् का भावार्थ समझे तो उसमें पराधीनता या दूसरा कोई विरोध नहीं आता।

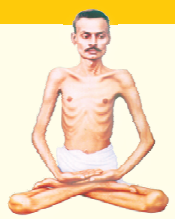

सत्समागम क्या काम करता है ? उस सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि **'गिरती वृत्ति स्थिर रखे, दर्शन मात्र से निर्दोष है।'** शुभाशुभ द्वारा रागादि परिणति में अज्ञानपूर्वक रुकना होता था, उसे टाले—ऐसी सत्समागम की महिमा है। अत: जीव स्वभाव की जागृति में निश्चल रहकर अपना सम्यग्दर्शन निर्दोषतापूर्वक, नि:शंकतापूर्वक टिकाये रखता है। देहादि सर्व परद्रव्य की क्रिया से स्वयं भिन्न रहकर जीव अपने नितान्त शुद्धस्वभाव को जानता है। परद्रव्य से स्वयं असंग है, ऐसे पुरुषार्थ द्वारा भान होने पर निर्दोष आत्मधर्म प्रगट होता है। गिरती वृत्ति को स्वभाव में टिकाये रखे, वह 'धर्म' है; अधोगति में अर्थात् परभाव में (विभाव में; प्रमाद में) जाने न दे और स्वभाव में स्थिर रखे, वह धर्म।

अपूर्वस्वभाव के प्रेरक, सकल सद्गुणकोष है। सत्स्वरूप (सत्समागम) में टिकाकर साधक स्वभाव को पूर्ण करे, ऐसे पुरुषार्थ में सद्गुरु प्रेरक हैं और वे सकल सद्गुणों का अनुपम भण्डार हैं। स्वस्वरूप की प्रतीति दृढ़, दृढ़तर होने पर अधिक पुरुषार्थ उठाकर विशेष साधकपना जीव प्रगट करते हैं और सातवाँ गुणस्थान प्राप्त करते हैं, जो कि पूर्णतया वीतराग निर्विकल्पता का कारण है; अनन्त में अयोगीस्वभाव को (चारित्र की पूर्णता को) प्रगट करनेवाले हैं। पूर्ण यथाख्यातचारित्र प्रगट होकर **अनन्त अव्याबाध स्वरूप में स्थिति करावनहार (करानेवाले) हैं।** इस प्रकार गुणश्रेणी का क्रम बताकर, अप्रमत्तदशा (मुनिपना) प्राप्त होने के बाद, स्वरूप में स्थिर रहकर, निर्विकल्प वीतरागदशा को साधता है। फिर बाद में बारहवाँ क्षीणमोह और अन्तर में अयोगीदशा प्राप्त करके अन्तिम पूर्ण पवित्रदशा, मोक्षावस्था है। इस प्रकार **अनन्त अव्याबाध स्वरूप में स्थिति करावनहार हैं।** इस प्रकार सत्पुरुष के समागम की यथार्थता बतायी है। ध्येयरूप जो पूर्ण पवित्र सिद्धस्वरूप है। उसका कारण अयोगीस्वभाव है और उसका कारण सत्समागम है।

विकास की क्रमबद्ध श्रेणी ली है। प्रथम 'दर्शनमात्र से निर्दोष', वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति है, फिर साधकस्वभाव की वृद्धि होने पर अप्रमत्त संयम और फिर पूर्णतया

वीतराग, यह तेरहवाँ गुणस्थानक—वीतराग भगवान और फिर मन, वचन, काया के सर्व योगरहित का अकम्प, अयोगी चौदहवाँ गुणस्थानक—इस प्रकार समग्र शुद्धस्वभाव का कारण सत्समागम ही है, परन्तु जिससे गुण प्रगट न हो, वह सत्संग नहीं कहा जाता।

श्रीमद्जी ने प्रत्येक पत्र में अन्तरनाद से पुरुषार्थसहित एक ही झंकार बजायी है कि सत्समागम ही एक कल्याणकारी है। लोग अपने स्वच्छन्दपूर्वक शास्त्र पढ़कर उल्टे अर्थ निकालते हैं और वे भवसागर में डूबते हैं। शास्त्रों की जानकारी से मोक्ष होता तो पन्नों (कागजों) का मोक्ष हो जाना चाहिए।

कई लोगों ने 'आत्मसिद्धि' याद कर ली है, दिमाग में भरी है, कण्ठस्थ की है और प्रतिदिन बोल जाते हैं किन्तु अन्दर से भाव—अर्थ समझे बिना अपनी कल्पना से अर्थ निकालकर धारणा ज्ञान में ले लेते हैं, किन्तु इस तरह मेल बैठेगा नहीं। अत: सत्समागम द्वारा 'आत्मसिद्धि' का अन्तरभाव—आशय समझने की आवश्यकता है। अपने आप पढ़ डाले तो समझ में नहीं आता और समझे बिना गुण प्रगट नहीं होता। ज्ञानी का आशय समझे बिना कल्पना करने से क्या होगा ? समयसार में तो साधारण आदमी को बात कठिन लगती है किन्तु इसमें बहुत सरल भाषा रखी है। अत: **'आत्मसिद्धि' सभी को (बाल-गोपाल—सभी भाई-बहिनों को) अन्तरपट में टंकोत्कीर्ण हो जाए, उस प्रकार से, मुखपाठ करके धारण कर लेने योग्य है। उसी का रात-दिन मनन करने से स्वयं का निर्णय होगा।** जिसे मोक्ष की इच्छा हुई है, उसे सत्संग की ही उपासना करनी चाहिए। सत्समागम की उपासना करनी हो, उसे बाह्य के साधन अप्रधान करके आत्मा की गवेषणा (खोज) करनी चाहिए, अर्थात् देहादि की, संसार की तथा संसार के सुख की वृत्ति छोड़ देनी और सत्शास्त्र, सत्संग का बलवानपना समझकर, उसका खूब परिचय करना—ऐसा अनन्त ज्ञानी भगवन्तों ने कहा है।

सत्समागम का माहात्म्य समझ में आये तो जैसे कारण का सेवन करे, वैसा कार्य अवश्य प्रगट होता है। इसलिए कहा कि अनन्त अव्याबाध सिद्धस्वरूप को प्राप्त कराये,

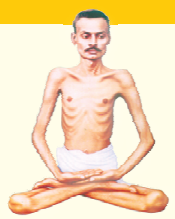

ऐसा कारण सत्समागम एवं सत्पुरुष हैं। अब नाम देते हैं, **'सहजात्म, सहजानन्द, आनन्दघन नाम अपार है, सत्देव धर्म स्वरूपदर्शक पारावार है'** जिस किसी ने गुरु में भूल की, वह देव, धर्म और शास्त्र में भूला है। जिसने सच्चे गुरु को पहचाना, उसने सच्चे देव, धर्म व शास्त्र का स्वीकार किया और आत्मा को भी माना है परन्तु यदि भ्रान्ति है तो उसका माना हुआ सब कुछ मिथ्या है। अत: कहते हैं कि **'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहि, सद्गुरु वैद्य सुजाण, गुरुआज्ञा सम पथ्य नहि, औषध विचार ध्यान।'** मरीज को अपने रोग की खबर नहीं और अस्पताल में घुसकर बिना पहचान के ही चाहे जो दबाई पीने लगे तो नुकसान ही होगा। अत: श्रीमद्जी कहते हैं कि आत्मस्वरूप में भूल के बराबर कोई बड़ा रोग नहीं है। अत: चाहे जैसे हो, एक सत्पुरुष को खोजो और उनके कोई भी एक वचन को मान्य करो, उनकी आज्ञानुसार प्रवर्तन करो। लाख रोग में कई प्रकार की दवाई चाहिए किन्तु इस आत्मस्वरूप में ही भूल, भ्रान्ति मिटाने के लिये कोई दवाइयों की जरूरत नहीं है। बाहर से किसी ग्रहण, त्याग की बात नहीं है; केवल जो उल्टी मान्यता, उस भूल को मिटाना है। इस प्रकार सद्गुरु आज्ञा द्वारा स्वच्छन्द मिटाया जा सकता है; अत: ज्ञानी के वचनामृत व सत्समागम उपकारी हैं। सत्समागम द्वारा जिनवचन का उपदेश, तत्त्व का श्रवण, मनन, चिन्तवन, ग्रहण करे तो जीव का विभाव मिट जाता है। राग-द्वेषादि उपाधि या पुण्य-पाप की गन्ध नहीं रहती, सर्व विभाव का रेचन हो जाता है; अत: एक आत्मा को अविरोधरूप से जानना, यह अनन्त ज्ञानी की वाणी का सार है। शब्द के पीछे वाच्य परमार्थ क्या है ? यह गुरुआज्ञा के बिना समझ में आये-ऐसा नहीं है। अत: **'गुरु आज्ञा सम पथ्य नहि'**—ऐसा कहा है। सद्गुरु के कहने का महान आशय क्या है ? इसे समझने की तीव्र और सच्ची जिज्ञासा चाहिए। रुचि बिना काम नहीं होता। जिस प्रकार मरीज से वैद्य कहे कि तू बासठ दिन के लांघन (उपवास) करेगा तो ही तेरा रोग मिटेगा। मरीज जीने की आशा से वैद्य के वचन के ऊपर भरोसा रखकर बासठ दिन का लांघन करता है, पर अपनी रुचि बिना (इच्छा बिना) यदि एक समय का भोजन न मिले, चाय-पानी की सुविधा न हो तो आर्तध्यान क्लेश करता है। जीने की कामनावाला जीव यदि पूरी-पूरी

हिम्मत रखकर लांघन शुरु करे तो भी कदापि ऐसा भी होता है कि रोग न भी मिटे, किन्तु यह गुरुआज्ञा ऐसा पथ्य है कि उसके सेवन से निरोगता निश्चितरूप से होती ही है। स्वयं को प्रत्यक्ष इसका अनुभव होता है। जिसे सद्गुरु के प्रति प्रेम हुआ, उसे गुण की प्रतीति एवं बहुमान होता ही है। सद्गुरु की वाणी जन्म, जरा, मरण का नाश करके भव का चूरा कर देनेवाली है। भव का अन्त करती है; शाश्वत्पद को प्रगट करती है। ऐसे सुजान वैद्य श्रीसद्गुरु हैं। सद्विचार और ध्यान औषधि हैं। स्वाभाविक, निर्मल, पूर्ण, पवित्रस्वरूप आत्मा और सहजानन्द, निराकुल, निरुपाधिक, अचल, शान्तिस्वरूप, सहज आनन्दमय आत्मपद है। लौकिक आनन्दरूप साता नहीं परन्तु बेहद सुख, स्वाधीन, शाश्वत्, अनाकुल आनन्द है। आनन्द का कन्द, आनन्दघन आदि अपार नाम व गुणसहित सद्देव सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा हैं और सद्धर्म स्वरूपदर्शक सद्गुरु का उपकार अपरम्पार है।

दान चार प्रकार से हैं। (१) आहार, (२) औषध, (३) अभयदान, (४) ज्ञानदान। इसमें ज्ञानदान सद्गुरु ही दे सकते हैं। यथार्थता पूर्ण जन्म-मरण की व्याधिरहित का मोक्षपद तथा परमकल्याणस्वरूप सद्धर्म है; उसे दिखनेवाले सद्गुरु हैं। करोड़ों रुपये हों, पर वह जड़वस्तु ज्ञान नहीं देती। इस निश्चयधर्म में सत्पुरुष का आत्मा ही दूसरे आत्मा को उपकारी निमित्त हो सकता है। सद्गुरु सत् की पहचान करानेवाले हैं; अतः प्रथम उपकारी को पहचानना चाहिए। वे ही जीवनदाता हैं। अभयदान में तो कभी एक जीव को तुमने बाहर से रक्षण दिया परन्तु वह मरकर तो संसार में भटकनेवाला है। उसका कुछ कल्याण नहीं हुआ। परन्तु **'प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करे, देखे परम निधान।'** आत्मा की पूर्ण स्वाधीन अनन्तशक्ति को प्रगट दिखा दे, ऐसे वे सद्गुरु स्वयं सद्देव और सद्धर्म अर्थात् आत्मधर्म का स्वरूप बताते हैं। उन गुरु की महिमा अपार है। **आरूग्गं बोहिलाभं**—भवरोगरहित की भावसमाधि मुझे दो, ऐसा कौन कहे ? जो समझा है कि मेरे में मल, मैल या रोग नहीं है; मैं शुद्ध, सिद्धसमान हूँ—ऐसा समझकर उपकारी सद्गुरु की भक्ति द्वारा पुरुषार्थ उठाते हैं। नियमसार में निर्ग्रन्थमुनि

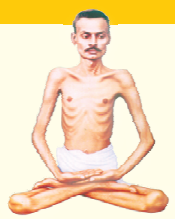

श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव सद्गुरु की महिमा करते हुए भक्तिरस के हिलोरे उछालते हैं। स्वयं महापवित्र, नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थमुनि थे, फिर भी कहते हैं कि हे सद्गुरु! हे नाथ! आपने अनन्त उपकार किया है। गुरु के चरणकमल बिना शुद्ध आत्मधर्म किस प्रकार प्रगट हो? केवलज्ञान कैसे प्रगट हो?

इस पंचम काल में साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा का विरह हुआ। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य समान धर्माचार्य का सत्संग बहुत दुर्लभ हुआ। ऐसे दुषमकाल में ज्ञानी को नहीं पहचाननेवाले लोग निन्दा करते हैं कि श्रीमद्जी ने जगत में अपनी पूजा कराने हेतु ये सब लिखा है। अरे रे! कितनी अधोमुखदशा! ज्ञानी को उसकी दया आती है कि अरे! वे बेचारे महामोह के वश स्वयं अपराधी होते हैं। जिस प्रकार उल्टा घड़ा हो, उस पर सारे घड़े उल्टे ही आते हैं; उसी प्रकार जिसे असत् का आदर है, उल्टी श्रद्धा है, वह शास्त्र पढ़े तो भी उसमें से उल्टी ही बात निकालेगा। जगत तीनों काल रहनेवाला है। ज्ञानी सब कुछ समझते हैं, फिर भी सभी जीव धर्म प्राप्त कर लें—ऐसी अन्तरकरुणा धर्मात्मा को हो जाती है, अर्थात् मेरा आत्मा शीघ्र पूर्ण पवित्रपद को प्राप्त कर ले। संसार के जीवों के प्रति समान करुणा है। सत् की निन्दा करनेवाला, भूल करनेवाले की तो वह क्षणिक संवेदना है परन्तु परमार्थ से तो वह आत्मा भी सिद्ध समान है—ऐसी निष्कारण करुणा आती है। ज्ञानी उसे वर्तमान में ही दु:खी देखते हैं और कहते हैं कि भाई! तेरी औंधायी का फल तू वर्तमान में देख नहीं सकता परन्तु भविष्य में अपना दु:ख तू किसी को बता भी नहीं पायेगा; इसलिए दया आती है।

गुरुभक्ति की महिमा, **'गुरुभक्ति से लहे तीर्थपतिपद शास्त्र में विस्तार है, त्रिकाल जयवंत वर्तो श्री गुरुराजने नमस्कार है'** सत्पुरुष की भक्ति, वही स्वरूपभक्ति है, वह कैसी होगी? शास्त्र में कहा है कि तीर्थंकर की तथा सद्गुरु की भक्ति द्वारा तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, उस सर्वोत्कृष्ट पुण्य का प्रभाव तीनों लोक में कल्याणकारी माना जाता है। सौ इन्द्र जिनके चरणों की सेवा करे, ऐसी महिमा गुरुभक्ति है तो फिर स्वभाव की स्वरूपभक्ति की क्या बात? तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञदेव देवाधिदेव हैं;

अठारह दोषरहित हैं; तीन लोक के नाथ, पूर्ण वीतराग जिनेश्वर भगवान हैं; उनको उत्कृष्ट पुण्य का संयोग होता है। उनका शरीर परम औदारिक, स्फटिक—जैसा होता है। इन्द्र आकर समवसरण की (धर्मसभा की) अलौकिक रचना करते हैं। यह सब बारम्बार युक्ति-प्रमाण से सिद्ध करने की जरूरत नहीं है; आगे कई बार कहा गया है, इसलिए शंका नहीं करनी। वर्तमान में भी पंच महाविदेहक्षेत्र में, साक्षात् सर्वज्ञ भगवान परमात्मा श्रीसीमन्धर प्रभु विराजमान हैं। यह जो-जो स्थिति कह रहे हैं, वह स्थिति ऐसी ही है; इसमें शंका का स्थान नहीं है। उसके बहुत प्रमाण हैं और आत्मा की सर्वोत्कृष्ट पवित्रदशा में ऐसा होना उचित है। इस विषय का शास्त्र में विस्तार है और स्वभाव से सिद्ध स्वयं आत्मा में विस्तार है।

यहाँ जिस प्रकार से श्री सद्गुरु का माहात्म्य कहने में आता है, इसमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है। आत्मा का यथार्थस्वरूप समझने पर जो-जो वस्तुस्थिति है, वह समझ में आती है; उसमें विरोध नहीं आता। धर्मात्मा (साधक) गुरुभक्ति विशेषरूप से करते हैं क्योंकि उनको अभी प्रशस्तराग है। उस राग की दिशा बदली है; सत् की प्रीति के सामने असत् को मिटा दिया है। दृष्टि में संसार का अभाव रहता है, मात्र मोक्षमार्ग में प्रयाण है; संसार का (भव का) अवकाश नहीं है—ऐसे साधकभाव को पूर्णता के लक्ष्य से उछालकर कहते हैं कि **'त्रिकाल जयवन्त वर्तो, श्रीसद्गुरुराज को नमस्कार है।'** अपना वीतरागभाव जयवन्त करके गये हैं। शासन को जब कायम रहना है, इसलिए ऐसे पुरुष होंगे ही और उनको पहचाननेवाले भी अवश्य निकलेंगे ही। पंचम काल के अन्त तक ज्ञानी का सद्भाव है, इसीलिए त्रिकाल जयवन्त है। संसार में लिखा जाता है कि **'चिरंजीवी हो,'** उनको चिरंजीविता तो देह के निमित्त से है, परन्तु यह अविनाशी चैतन्य नित्य में से जागा, ऐसे निजस्वरूप आत्मा का सद्धर्म विश्व में जयवन्त रहता है। **'त्रिकाल जयवन्त वर्तो श्रीगुरुराज ने नमस्कार है।' 'प्रणमुं पद ते वर ते जय ते।'** इस प्रकार **'प्रणमी श्रीगुरुराज के पद, आप-परहित कारणं, जयवंत श्री जिनराजवाणी करुं तास उच्चारणं'**

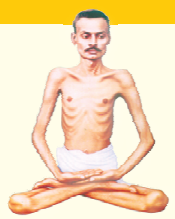

भवभीत भविक जे भणे;
भावे सुणे समझे श्रद्धे।

सत्श्रुत का अभ्यास करे, गान करे, भावना करे, सुने, समझे और माने—उसका फल सम्यग्दर्शन है। जैसा शुद्ध आत्मस्वरूप परमार्थ से है, ऐसा मानना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अभेदता (एकता) करके, अपने शुद्धभाव में पूर्ण स्थिरता की साधना करके जीव निजपद को प्राप्त करता है। **श्रीमद्जी की पुस्तक में बहुत अर्थसूचक गम्भीरता भरी है; उसमें 'प्रायः' 'मुख्यतया' इत्यादि शब्द हैं। उसकी अपेक्षा साधारण जीव को समझ में न आये, ऐसा भी किसी जगह पर आता है। अतः सत्समागमपूर्वक पढ़ना व विचार करना।**

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत 'पंचास्तिकाय' संक्षिप्त भाषा में, अद्भुतभाव ग्रहण करके श्रीराजचन्द्रजी ने सूक्ष्म बुद्धि से लिखा है; द्रव्यसंग्रह की गाथा का अर्थ भी लिया है। इस प्रकार महान आचार्यों का अनुभव स्वयं ने अपनी नोट में लिख लिया है और पढ़नेवाले को सरल लगे, ऐसी रचना बन गयी है, फिर भी उनकी वाणी में इतनी गूढ़ता है कि इसमें 'प्रायः' माने 'कथंचित्' (सापेक्षतापूर्वक) समझने को बहुत कुछ रहता है। इसे समझने हेतु मध्यस्थता एवं विशालबुद्धि चाहिए। यदि आगे-पीछे की सन्धि और अपेक्षा मिलाये बिना कोई पढ़े तो भाव में सन्धि टूट जाए और बराबर मेल नहीं मिलता। अतः सत्समागमपूर्वक पढ़ने व विचारने की सीख है। **श्रीमद्जी ने तो मनुष्य जीवन में अपना सुकृत्य किया और आत्मा की अखण्डसमाधि लेकर गये हैं।** इस प्रकार जो कोई मुमुक्षु अपने आत्मा का स्वरूप समझने के लक्ष्य से ही (मात्र मोक्ष अभिलाष; संसार की अंशमात्र इच्छा नहीं) आत्मा की वास्तविक प्रतीति करना चाहे तो इस काल में भी आत्मधर्म की आराधना हो सकती है। **सभी के घर में हर किसी को 'आत्मसिद्धि' मुखपाठ करने लायक है तथा मोक्षमाला जिसमें १०८ मनके के रूप में पाठ है, वह छोटे बच्चों को व वृद्धों को भी पढ़ लेने की सिखावन है। श्रीमद्जी को सातवें वर्ष में तो जातिस्मरणज्ञान के संस्कार प्रगट हुए थे।** मोक्षमाला में जीवतत्त्व की व्याख्या करते हुए दो नय शामिल किये हैं—

(१) द्रव्यार्थिकनय, (२) भावार्थिकनय।

यह तत्त्वबोध पाठ में कहा है; बहुत छोटी-सी उम्र में देखो तो सही! द्रव्यार्थिकनय और भावार्थिकनय—इस प्रकार अन्दर से बात निकलती है और कहा है कि भगवान ने दो प्रकार से द्रव्य की पहचान करवायी है—द्रव्यार्थिक और भावार्थिक। इसमें बुद्धि और संस्कार का कितना सुन्दर सुमेल बताया है! भाव और पर्याय एक है। लोगों को अस्सी साल में भी पता नहीं लगता कि द्रव्यार्थिकनय क्या है और पर्यायार्थिकनय क्या होगा? भावार्थिकनय माने आत्मा की समय समयवर्ती अवस्था दिखानेवाला ज्ञान का पहलू। विश्व में छह स्वतन्त्र द्रव्य हैं। इसकी पहचान करानेवाली द्रव्यदृष्टि है। सामान्य एवं विशेष अंश को सापेक्षतापूर्वक बतायें, उसे नय कहते हैं। **श्रीमद्जी ने सोलह वर्ष पाँच महीने की उम्र में मोक्षमाला की रचना की। इसके बाद उत्तरोत्तर उनका जीवन देखोगे तो उसमें लोकोत्तर सुगन्ध देख सकोगे। ये सारे संस्कार पूर्वभव के थे। ऐसे ज्ञानी पुरुष मौजूद थे, तब उनका लाभ लेनेवाले खास ज्यादा लोग नहीं थे। कोई लाओ तो सही कि ऐसा सन्देश कैसे होगा? एक बार वे पूर्वजन्म के संस्कारों के स्मरण की भावना भाते हैं कि धन्य वह सत्समागम! पूर्व में जो सत्समागम किया था-क्षेत्र, वह काल और वह भाव याद आते हैं। धन्य उस सत्समागम का आनन्द! प्रवृत्ति में बैठे होने के बावजूद भी वे निवृत्तिसंयोग और सत्समागम याद आते हैं। ये तो एकान्त वनक्षेत्र में बैठे हैं या जौहरी के व्यवसाय में?**

धर्मात्मा को पहचानने के लिये अन्तरंगदृष्टि विकसित करनी चाहिए। धर्मात्मा के अन्तर की उज्ज्वलता धर्मात्मा ही जाने; साधारण जीवों के छोटे गज (नापदण्ड) द्वारा ज्ञानी के महान हृदय का मूल्य आँका नहीं जा सकता। दृष्टान्त - जिस प्रकार स्कूल में पढ़नेवाला नौ वर्ष का बच्चा रविवार का दिन होने के कारण घर पर था। उसके पिताजी बाजार से अलपाक का थान लाये। उस नौ साल के बच्चे ने कहा, 'बापू! यह थान कितने हाथ लम्बा है?' तो पिताजी ने कहा, 'यह अलपाक का थान पचास हाथ है।' बच्चे ने अपने हाथ से नापना शुरु किया तो पचहत्तर हाथ हुआ। तब बच्चे ने कहा, 'बापू!

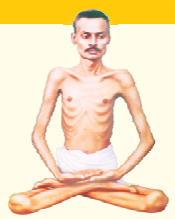

आपकी बात गलत है; यह थान पचहत्तर हाथ है।' तब पिताजी ने कहा कि 'हमारे लेन-देन के काम में तेरा हाथ का नाप नहीं चलेगा।' तब बच्चे ने कहा कि 'क्या मैं आदमी नहीं हूँ ? मेरा हाथ क्या हाथ नहीं है ?' जिस प्रकार व्यवहार के नाप में बच्चे का हाथ काम में नहीं आता, उसी प्रकार धर्मात्मा के अन्तरंग को बालजीव (अज्ञानी) नाप नहीं सकते, किन्तु बालक की बजाय लायक बन जाए तो फिर मेल मिल जाएगा। फिर पूछने क्यों आयेगा ? अत: ज्ञानी को पहचानने के लिये प्रथम उस मार्ग का परिचय करना पड़ेगा। रुचि बढ़ाओ; विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता, जितेन्द्रियता—ये गुण चाहिए। हित-अहित की परीक्षा करना सीखना पड़ेगा। सन्त की परीक्षा होने पर सत् का आदर होवे और तभी धर्मात्मा का उपकार समझ में आ सकता है और तभी अपने गुणों का बहुमान आता है। वर्तमान में ही अपूर्व शान्ति प्रगट हो जाए; किसी से पूछने नहीं जाना पड़ेगा। ॥ इति ॥

भव के अन्त के सम्बन्ध में श्रीमद् राजचन्द्रजी की ध्वनि

(वीर संवत् 2475 के चैत्र कृष्ण 5, श्रीमद् की संवत्सरी के दिन राजकोट में पूज्य गुरुदेवश्री का विशिष्ट प्रवचन)

आज श्रीमद् राजचन्द्रजी के समाधिमरण का दिन है। सच्चा समाधिमरण किसे कहा जाये ? समाधिमरण का यथार्थस्वरूप क्या है ? आज वह बात यहाँ आयेगी ?

आत्मा अनन्तकालीन-अनादि अनन्त स्थायी रहनेवाला, नित्य अस्तित्व रखनेवाला—होनेरूप पदार्थ है। अनादि-अनन्त रहनेवाले, ज्ञानस्वरूप आत्मा को वर्तमानदशा में भूल के कारण भ्रमण करना पड़ता है। आत्मा स्वभाव से ज्ञाता-दृष्टा, शुद्ध चैतन्य, आनन्दस्वरूप होने पर भी अनादि से वर्तमान अवस्था में—'यह शरीर मैं हूँ, शरीर के कार्य मुझसे होते हैं, पर-पदार्थों से मेरे आत्मा को लाभ होता है, तथा दया, दानादि विकारी भावों से मेरा हित होता है'—ऐसी विपरीत मान्यतारूप भ्रमणा तथा राग-द्वेषादि विकारी भावोंरूप परिणमित होता है; और उसके कारण अनादि संसार में उसका भ्रमण होता रहता है।

अब, आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को जैसा है, वैसा समझे कि—शरीरादि परपदार्थ मेरे नहीं हैं; मैं उनसे भिन्न चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा हूँ, तथा दया, पूजा, दानादि राग के परिणाम भी मेरा स्वरूप नहीं है। वह मेरा सच्चा आनन्दस्वरूप नहीं है, क्योंकि उन विकारी भावों के लक्ष्य से मुझे उत्थान और आकुलता उत्पन्न होते हैं—ऐसी प्रतीति करे तो इस आत्मा को परिभ्रमण न रहे। ऐसा पर से तथा रागादि से भिन्न आत्मा का यथार्थ स्वरूप अनादिकाल से जीव एकक्षण भी नहीं समझ पाया है। यदि ऐसा यथार्थ स्वरूप एकक्षण मात्र भी समझे तो उसे अन्तरङ्गदशा में स्वभाव से विश्वास हो कि अल्पकाल में मेरी मुक्ति होगी। आत्मा का भान होने से प्रथम ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है।

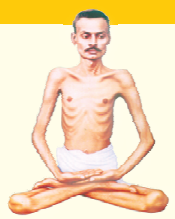

उस सम्यग्ज्ञान में आत्मा को ऐसा भास होता है कि अल्पकाल में मेरी परमात्मपद की प्राप्ति का समय है। परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय अथवा परमात्मपद की प्राप्ति का सच्चा पंथ—एकावतारी होने का काल मुख्यतया मनुष्य देह में होता है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी का बिल्कुल छोटी आयु में देहावसान हुआ था। मात्र तेतीस वर्ष की आयु में उनकी देह छूटी थी। उन्हें छोटी आयु में जातिस्मरण यानी पूर्वभवों का स्मरण हुआ था। पूर्व के संस्कार और ज्ञान का विकास उनके बहुत था। उन्होंने 16 वर्ष की आयु के पहले 'पुष्पमाला' रची थी; उसमें प्रथम ही यह वाक्य लिखा है कि —

'रात्रि व्यतीत हो गई, प्रभात हुआ, निद्रा से मुक्त होने के लिए भावनिद्रा टालने का प्रयत्न करना!'

शरीर की इतनी छोटी बालवय में प्रथम ही यह वाक्य लिखा गया है। उनके अक्षरदेह का यह प्रथम वाक्य है। इसमें आत्मा को अज्ञानरूप भावनिद्रा टालकर अन्तरंग स्वभाव की जागृति करने के लिए कहा है। जीव अनादि से—शरीर मेरा है, शरीर के तथा बाह्य के अन्य पदार्थों के कार्य मेरे कारण होते हैं, राग-द्वेष-पुण्य-पाप विकारी भाव मेरे हैं'—इस प्रकार पदार्थों को तथा अज्ञानादि विकारी भावों को अपना मानता है। वह मान्यता भूल है, भ्रम है, मिथ्या है। यह मिथ्या मान्यता जीव अपने मूल शुद्धस्वरूप का भान न होने से—वर्तमानदशा में—अवस्था में अनादि से करता आ रहा है। उस भूल के कारण जीव परिभ्रमण करता है और भिन्न-भिन्न अवतार धारण करके दु:खी होता है।

जीव की वह भूल दूर करने का उपाय भी एक ही है। श्रीमद् ने स्वयं आत्मसिद्धि में कहा है कि—

'एक होय त्रणकालमां, परमारथनो पंथ।'

आत्मा के परमार्थ स्वभाव की जागृति के पंथ विविध प्रकार के नहीं होते। स्वभाव की अन्तर-जागृति का पंथ त्रिकाल में एक ही होता है, दूसरे प्रकार का नहीं होता। जीव ने जो शरीरादि बाह्य पदार्थों को, तथा दया, दानादि विकारीभावों को अपना

माना है, उनसे भिन्न अपने त्रिकाली चैतन्यस्वभाव को पर तथा विकाररहित जानना अर्थात् आत्मा की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान और स्वभाव में स्थिरतारूप चारित्र करना, वह भावनिद्रा अर्थात् भूल-भ्रमण को दूर करने का उपाय है।

रात्रि व्यतीत हो गई, सवेरा हुआ, (बाह्य) निद्रा से जागृत हुए, परन्तु भावनिद्रा दूर करने का प्रयत्न करना! भावनिद्रा अर्थात् पर-पदार्थ से मुझे लाभ-हानि होता है, मैं पर-पदार्थ को लाभ-हानि कर सकता हूँ—वैसी मिथ्या मान्यता को दूर करने का प्रथम प्रयत्न करना। यहाँ दूसरा कुछ करना—पर की दया पालना, पर की सेवा करना इत्यादि कुछ भी नहीं कहा है; लेकिन सर्वप्रथम कहा है कि—मिथ्यामान्यतारूपी भावनिद्रा को दूर करना। क्योंकि कोई पदार्थ किसी पर पदार्थ की सेवा या भला कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक पदार्थ भिन्न सत्तावाला है; वह अपनी सत्ता-अस्तित्व अपने से ही रखता है। उस पदार्थ का भला-बुरा अपने अस्तित्व में अपनी सत्ता में होता है। उसकी सत्ता में कोई दूसरा पदार्थ भला-बुरा नहीं कर सकता, दोनों पदार्थों की सत्ता भिन्न-भिन्न है। भावनिद्रा अर्थात् भूल-मिथ्या मान्यता अपनी पर्याय की सत्ता में अपनी अवस्था में होती है, इससे उस भावनिद्र को हटाने का उपदेश किया है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव ने आत्मा का स्वरूप परिपूर्ण प्रत्यक्ष एक समय में—अल्प से अल्पकाल में जाना है। उन्होंने स्वयं जानकर यह आत्मा का स्वरूप कहा है कि यह आत्मा स्वभाव की अर्थात् अनन्त गुणों की खान है, उसमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण हैं। ऐसे अनन्त स्वभाव की महिमावाले आत्मा को पहचान बिना—'यह शरीर मेरा है, उसके सब कार्य मेरे करने से होते हैं, शरीर को चलाना, खिलाना, पिलाना आदि मेरी इच्छानुसार मैं कर सकता हूँ—इस प्रकार शरीर में एकत्वबुद्धि—अपनत्व की मान्यता तथा पुण्य-पाप के भाव अथवा दया-दानादि के विकारीभाव मेरे हैं, उनके द्वारा मेरा कल्याण होगा, बाह्य की अनुकूल सामग्री हो तो मेरा हित हो'—ऐसी, त्रिकाल स्वाधीन चैतन्यस्वभाव से च्युत होकर पराधीन मान्यता, वह भावमरण अथवा निद्रा है। ऐसी मिथ्या मान्यता और दयादि शुभराग के भावों से रहित

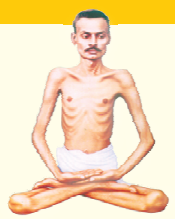

चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की शक्तिवाला यह मेरा आत्मा है—ऐसा न मानकर विपरीत मान्यता से तथा रागादि भावों से आत्मा का कल्याण हो—ऐसी मान्यता, वह भावनिद्रा है। इस भावनिद्रा से रहित आत्मा का त्रिकाली जागृत-ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप जैसा है, उसे वैसा ही—यथावत् समझना, वह भावनिद्रा दूर करके स्वभाव में जागृत होने का उपाय है। वही कल्याण तथा आत्महित का मार्ग है।

आत्मा की यह यथार्थ बात सबको समझना है। बालक, युवा तथा वृद्ध—सभी का आत्मा यह बात समझ सकता है; क्योंकि कोई आत्मा युवा, वृद्ध या बालक नहीं है। अनादि के सभी आत्मा प्रवर्तित होते हुए वर्तमान क्षण तक आये हैं। कोई आत्मा भविष्य के क्षण में वर्तमान में नहीं पहुँच गया है; इसलिए कोई छोटा-बड़ा नहीं है। जो भी छोटे-बड़े का भेद लोगों द्वारा माना जाता है, वह मात्र शरीर की हड्डियाँ तथा चर्बी की पुष्टि और कृशता की अपेक्षा से है। शरीर पुष्ट हो, शरीर में चर्बी के रजकण खूब हों तो उसे लोग जवान कहते हैं। शरीर कृश हो—चर्बी कम हो गई हो, खाल सिकुड़ गई हो, उसे लोग वृद्ध कहते हैं; लेकिन उसमें कहीं आत्मा छोटा-बड़ा नहीं है। कोई दस-बीस वर्ष पहले इस शरीर में आया और कोई दस-बीस वर्ष बाद इस शरीर में आया, इससे इस शरीर में आने की अपेक्षा से छोटे-बड़े के भेद कहलाते हैं; इसलिए कोई आत्मा छोटा-बड़ा नहीं है; सभी आत्मा अपने स्वभाव को समझ सकते हैं और अनादिकालीन भावनिद्रा को दूर कर सकते हैं।

यह भगवान आत्मा इन देहादि की अवस्था से तो पार है; परन्तु जो दया, दान, पूजा की वृत्ति का शुभ उत्थान हो—जिसे त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव पुण्य अर्थात् शुभ विकार कहते हैं—उससे चैतन्य को लाभ होता है—ऐसी मान्यता को भी भावनिद्रा तथा भावमरण कहा है।

यथार्थ समाधिमरण अर्थात् अज्ञान और राग-द्वेषस्वरूप भावमरण से रहित दशा क्या है? उसकी बात चलती है। श्रीमद् राजचन्द्रजी देह की अन्तस्थिति के समय राजकोट में, अपने घर आरामकुर्सी पर बैठे थे। उनके भाई मनसुखलाल और माता तथा

बहनोई आदि कुटुम्बीजन कमरे के बाहर बैठे थे। अन्तिम समय उन्होंने मनसुखभाई से कहा था कि भाई मनसुख, मुझे कोई बुलाना मत, मैं अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होता हूँ! इस प्रकार श्रीमद् ने शरीरादि से भिन्न आत्मा के स्वभाव के भानपूर्वक अन्तरलीनतारूप समाधिपूर्वक-अन्तरस्वभाव की आनन्ददशा में शरीर छोड़ा। ऐसे मरण को समाधिमरण कहते हैं।

श्रीमद् को आत्मस्वभाव की जागृति अर्थात् पर से और रागादि विकारी भावों से रहित त्रिकाली चैतन्यस्वभाव का ज्ञान बहुत वर्ष पहले हुआ था; उस सम्यग्ज्ञान के बल द्वारा देह की अन्तस्थिति में उन्हें समाधिमरण अर्थात् आत्मा की अन्तरशान्तिपूर्वक देह-त्याग हुआ। श्रीमद् ने अन्तरंग आत्मस्वभाव की पहचान तथा स्वभाव की शान्ति अपने आत्मा में से प्रगट की थी; उन्होंने बाह्य में कुछ नहीं किया था। वे गृहस्थ थे; स्त्री-बच्चे, व्यापार-धन्धा आदि थे। बाह्य में अनेक संयोगों के निकट होने पर भी उनसे भिन्न आत्मा का उनको भान था; इससे उन्हें अन्तरसमाधि और शान्ति थी। और दया-दानादि के भाव राग हैं, विकार हैं; उस ओर उन्मुखता की वृत्ति से जीव को आकुलता होती है, असमाधि होती है। तथा पर-पदार्थों का ग्रहण-त्याग किया ही नहीं जा सकता; क्योंकि भिन्न अस्तित्व रखनेवाली वस्तु अपने से स्वयं वर्त रही है; उसका परसत्ता द्वारा ग्रहण-त्याग नहीं हो सकता। यदि परसत्ता द्वारा परसत्ता का ग्रहण-त्याग हो तो उसकी भिन्न सत्ता अस्तित्वरूप न रहने से उसका नाश हो जाये, लेकिन ऐसा कभी नहीं होता। ऐसा अपूर्व भेद-विज्ञान श्रीमद् को था। पूर्व के संस्कार तथा अपूर्व वर्तमान पुरुषार्थ द्वारा उन्हें ऐसा आत्मस्वभाव का ज्ञान हुआ था। पूर्व के संस्कार हों, परन्तु वर्तमान में उन संस्कारों का स्मरण करके बनाए रखना, वह वर्तमान नवीन पुरुषार्थ है। उस वर्तमान नवीन पुरुषार्थ द्वारा 'मैं आत्मा त्रिकाली चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा हूँ; देह, वाणी, तथा रागादि दोषों से रहित भिन्न हूँ'—ऐसा भान उन्हें था; और ऐसा आत्मा का यथार्थ भान-यथार्थ प्रतीति करना, वह अपूर्व नवीन-अनादि से नहीं किया हुआ-करना है। इसके अतिरिक्त जगत् में दूसरा कुछ भी अपूर्व नहीं है।

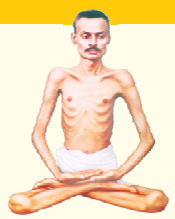

यह आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दकन्द, जैसा त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव भगवान ने देखा है, वैसा ही उसे समझना और राग, दया, दानादि विकारीभावों का स्वभाव की रमणता—स्थिरता द्वारा नाश करना—अन्तरंग रागरहित शान्ति प्रगट करना, वह समाधि है। इसके अतिरिक्त लोग श्वास को रोकने आदि की क्रिया को समाधि मानते हैं, वह समाधि नहीं है। श्वास का रुकना तो जड़ की क्रिया है, उस पर आत्मा का अधिकार नहीं है। आत्मा का अधिकार अन्तर में आत्मा की शान्ति पर है; परपदार्थ पर नहीं है। श्वास का ऊँचा-नीचा होना, वह जड़ की क्रिया है, और उस ओर के लक्ष्यवाली राग की क्रिया, वह हठ क्रिया है; वह आत्मा की समाधि नहीं है, वह आकुलता है। आत्मा की सच्ची पहचान करके जो स्वभाव की शान्ति-स्वरूपसमाधि प्रगट करता है, उसके भावनिद्रा तथा भावमरण नष्ट हो जाते हैं; इससे पर से मुझे लाभ होता है—ऐसी मिथ्या मान्यता नष्ट हो जाती है।

इस आत्मा की—'पर से मुझे लाभ होता है, मैं परपदार्थों का कर सकता हूँ'—ऐसी मान्यता होना, उसे भावमरण कहते हैं। श्रीमद् ने 16वर्ष की आयु में 'अमूल्य तत्त्वविचार' में भावमरण के सम्बन्ध में कहा है कि—

बहु पुण्यपुंज प्रसंग से शुभ देह मानव का मिला,
तो भी अरे भवचक्र का फेर न एक कभी टला
सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते सुख जाता दूर है
तू क्यों भयंकर भावमरण प्रवाह में चकचूर है।

सोलह वर्ष के बाद का यह काव्य है। बचपन से ही उनका भव के अन्त पर खूब भार है, भव के नाश की अत्यन्त आतुरता है। अनन्त काल से नहीं समझे हुए आत्मस्वरूप को अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव के प्रयत्न द्वारा समझकर तुरन्त भव का नाश न हो तो पुरुषार्थ और प्रतीति की अपूर्वता ही क्या? अनन्त काल में जिसकी प्राप्ति होना दुर्लभ है—ऐसे इस मनुष्यभव में आत्मा की पहचान करके आत्मस्वभाव से विरुद्ध—ऐसे भवभ्रमण के मूल का नाश न करे तो मनुष्यभव की कोई गिनती नहीं है। जगत् में कौऐ

और कुत्ते जन्म लेकर मर जाते हैं, वैसे ही मनुष्यभव प्राप्त करके भी यदि अज्ञान में जीवन बिताकर मरे तो कुत्ते और मनुष्य के भव में कुछ अन्तर नहीं है। अति पुण्य के योग से अर्थात् पूर्व के किसी दयादि मन्दकषाय के फलरूप दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त हुआ है। इस मनुष्यभव में आत्मा के स्वरूप को समझने की मुख्यता है, इसलिए उसे शुभ देह कहा है। देह को शुभ कहना, वह व्यवहार का कथन है। मानवदेह प्राप्त करके यदि आत्मा देह, वाणी और रागादि से रहित त्रिकाली आत्मा का स्वरूप पहचानने का प्रयत्न करे, समझे तो देह को शुभपने का उपचार आता है, परन्तु यदि आत्मा की पहचान न करे तो उसे शुभ या व्यवहार नहीं आता, किन्तु कुत्तों आदि की भाँति भावमरण-अज्ञानमरण-बालमरण करके, उसे वह भववृद्धि का निमित्त कहलाता है।

ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त हुआ, तथापि, अरे रे! भवभ्रमण का एक चक्कर भी दूर नहीं हुआ! वही के वही चार गति के भ्रमण बने रहे! आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझे बिना परपदार्थ में अपना स्वरूप-अपना सुख मान-मानकर भ्रमण किया! किन्तु हे जगत के जीवों! कुछ विचार तो करो! कि बाह्य सुख प्राप्त करने से अन्तर का सुख दूर होता है। शरीर में, विषयों में सुख है, उनमें से मुझे सुख प्राप्त होगा—ऐसी मान्यता से, पर में ही भटकते रहने से अपने अन्तरंगस्वभाव का सुख-अन्तरंग शान्ति दूर होती है। विषयों में सुख नहीं है, सुख आत्मा का स्वभाव है; उसे बाह्य में ढूँढ़ने से अन्तर का सुख दूर होता है और आकुलता उत्पन्न होती है। 'लेश अे लक्षे लहो!' लेश अर्थात् जरा इसे लक्ष्य में—ख्याल में तो लो! अन्तरंग धैर्यपूर्वक जरा विचार तो करो कि मेरा सुख पर में नहीं हो सकता। पहले जरा तो लक्ष्य करो। पीछे स्थिरता की बात! पहले सत्य को लक्ष्य में तो लो।

शरीर की सोलह वर्ष की आयु में यह बात आयी है। आयु आत्मा को लागू नहीं पड़ती; सभी आत्मा अनादि से प्रवर्तमान होते हुए वर्तमान वर्त रहे हैं। कोई आत्मा वर्तमान समय से आगे बढ़कर भविष्य में नहीं गया है; इसलिए वास्तव में जवान या वृद्ध किसे कहा जाये? समस्त आत्मा अनादिकालीन हैं; कोई छोटा-बड़ा नहीं है। देह की स्थिति को लेकर व्यवहार से कहा जाता है, लेकिन वह यथार्थ नहीं है।

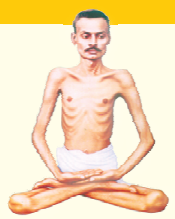

जगत के अनन्त चैतन्य आत्मा और अनन्त जड़ पदार्थ—परमाणु आदि पदार्थ अनादि-अनन्त हैं। त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर भगवान ने उनकी सत्ता-अस्तित्व जैसी देखी है, वैसी उनकी सत्ता-अस्तित्व अपने कारण है; इसलिए किसी की सत्ता किसी पदार्थ पर कार्य नहीं करती। प्रत्येक पदार्थ अपने अस्तित्व से कार्य कर रहा है, तथापि एक पदार्थ के अस्तित्व के कारण-निमित्त के कारण दूसरे पदार्थ की सत्ता-अस्तित्व में लाभ हो—ऐसी मान्यता होने को श्रीमद् ने भावमरण कहा है। वह भावमरण भवचक्र का-परिभ्रमण का कारण है।

श्रीमद् जगत् के जीवों से कहते हैं कि—ऐसे अज्ञान मान्यतारूपी भावमरण के कारण—प्रतिक्षण होनेवाले भयंकर भावमरण के कारण परिभ्रमण होता है, तथापि उसमें क्यों लीन हो रहे हो ? क्षण-क्षण भावमरण अर्थात् प्रतिसमय प्रत्येक पर्याय में अज्ञानभाव के कारण आत्मा के स्वरूप की अप्रतीतिरूप भावमरण-आत्ममरण हो रहा है, उसका अज्ञानियों को भान नहीं है और उसी में रुचिपूर्वक-प्रीतिपूर्वक लीन रहते हैं। ज्ञानी कहते हैं कि अहो जीवो ! तुम उसमें क्यों लीन हो रहो हो।

पुद्गल के अन्तिम से अन्तिम पॉइण्ट को—छोटे से छोटे अंश को परमाणु कहते हैं; उस परमाणु जितने क्षेत्र को एक प्रदेश कहते हैं;—ऐसे असंख्य प्रदेशोंवाला जीव है। जीव के स्वद्रव्य का, स्वभाव का तथा उसकी पर्यायों का क्षेत्र अपने असंख्यप्रदेश जितना है। जीव अन्तरंग स्वभाव में से, स्वक्षेत्र में से, अपने अस्तित्व में से सुख का प्रयत्न न करके, स्वसत्ता से बाहर—देह, वाणी तथा पुण्यादि विकारी भावों में से सुख प्राप्त करने जाता है—उससे अन्तर-चैतन्यस्वभाव की जागृति का नाश होता है,—उसे किंचित् तो लक्ष्य में—ख्याल में लो।

आत्मतत्त्व को ढूँढ़ने में अन्तर-दृष्टि कार्य करती है। अन्तर में चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव को पहचाने बिना बाह्य लक्ष्य से दया-दानादि शुभ विकार हो अथवा देह की क्रिया हो—वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; परन्तु त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की दृष्टि के बल से जो आत्मा के परिणाम अर्थात् भाव होते हैं, उन्हें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानरूप

आत्मा का कार्य कहा है। इसके अतिरिक्त लक्ष्मी आदि जड़ के संयोग, देहादि जड़ की क्रिया अथवा पुण्य-पाप के विकारी भावों को आत्मा का सच्चा कार्य नहीं कहा है, तथापि उनसे और उनकी वृद्धि से आत्मा का हित मानना, वह भावमरण है और लक्ष्मी तथा अधिकार आदि प्राप्त करने की इच्छावाले भावों से आत्मा का सुख दूर होता है और आकुलता बढ़ती है। उसे जरा तो लक्ष्य में लो।

लक्ष्मी और अधिकार आदि बाह्य पदार्थों में तो सुख नहीं है; परन्तु पुण्यरूपी शुभभाव में भी सुख नहीं है। क्या बाह्य में या विकार में सुख होता है? सुख आत्मा की सत्ता में होता है या पर की सत्ता में? सर्वज्ञदेव-सम्पूर्ण ज्ञानानन्द भगवान हुए—वे आत्मा में से हुए या बाह्य से? परिपूर्ण सुखी और परिपूर्ण ज्ञानी श्री वीतराग अरिहन्तदेव आत्मा की स्वसत्ता में से हुए हैं। बाह्य से—देह से, वाणी से वे सुखी नहीं हुए हैं। इसलिए देहादि बाह्य पदार्थ आत्मा के सुख के लिए साधन नहीं हैं। जो देह को अथवा बाह्य संयोगों को सुख का साधन-कारण मान रहे हैं, वह मान्यता उनका भ्रम है, अज्ञान है, मिथ्या मान्यता है।

और यदि देह साधन हो तो ऐसी देह तो जीव अनन्त बार प्राप्त कर चुका है, ऐसी देह की अनन्त बार राख हो चुकी; लेकिन 'देह मेरी है, वह मुझे धर्म का साधन है'—ऐसी मान्यता होने से भावमरण करते-करते अज्ञानी जीव को अनन्त काल से परिभ्रमण हो रहा है। एकमात्र आत्मा की यथार्थ प्रतीति किये बिना अज्ञान के कारण अनन्त बार कुत्ते आदि के भव धारण किये। अरे! जैन के नाम से, जैन का द्रव्यलिंगी साधु होकर भी 'यह शरीरादि की क्रिया मुझे धर्म का साधन है और व्रतादि पुण्य-भाव करते-करते धर्म अर्थात् आत्मा का कल्याण हो जायेगा'—ऐसी अज्ञान मान्यता रखकर जीव ने अनन्त बार मिथ्यामान्यतारूप आत्ममरण अर्थात् भावमरण किये।

इसलिए भगवान सर्वज्ञदेव कहते हैं कि आत्मा के यथार्थ स्वरूप को यथावत् समझे बिना केवल हमारे सम्प्रदाय की पकड़ करे तो वह कहीं भावमरण दूर करने का उपाय नहीं है। परन्तु तू अन्तर, देह से रहित तथा रागादि से रहित, भव से रहित त्रिकाली चैतन्यस्वभाव को समझ! वह समझ भवभ्रमण अथवा भावमरण दूर करने का उपाय है।

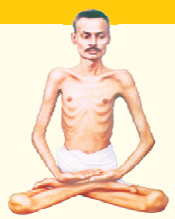

ऐसे यथार्थ भानपूर्वक आत्मा को देह का छूटना, उसे समाधिमरण अथवा पण्डितमरण कहते हैं। और मैं जाननेवाला-ज्ञातास्वभाव ही हूँ, पर की क्रिया का कर्ता-हर्ता मैं नहीं हूँ, पुण्यादि रागभाव मेरा स्वरूप नहीं है; राग तो आकुलता है; उससे भिन्न अन्तर स्वभाव की शान्ति, चैतन्य में आनन्दरस की धारा उठे, वह मेरा स्वभाव है।—ऐसे भान बिना, 'मैं शरीर का स्वामी हूँ', मैंने शरीर द्वारा इतने कार्य किये, पर का भला कर दिया आदि पर के कर्तृत्व की अज्ञान-मान्यतापूर्वक देह छूटे, वह बालमरण है, अज्ञानमरण है; ज्ञानी उसे समाधिमरण नहीं कहते हैं; फिर चाहे भले ही श्वास बन्द कर गड्ढे में पुर जाये, लेकिन वह समाधि नहीं है, उसे आत्मा का अज्ञान होने से प्रतिसमय भावमरण होता ही रहता है।

प्रभु आत्मा! बहुश्रुत होकर स्वभाव के भान बिना तूने बहुत बालमरण किये हैं। चैतन्यस्वभाव के भानपूर्वक देह छूटने को भगवान समाधिमरण कहते हैं, भान बिना देह छूटे उसको समाधिमरण-पण्डितमरण-भगवान नहीं कहते; वह तो बालमरण है। उसके फल में जीव कौआ, कुत्ता आदि चारों गतियों में परिभ्रमण करता है।

आधि, व्याधि, उपाधि और समाधि का स्वरूप

आधि, व्याधि और उपाधि रहित, वह समाधि है। आत्मा शान्ति और आनन्द स्वभाव है, उसकी वर्तमान दशा में पर के लक्ष्य से दया, दान आदि शुभभाव और हिंसा-झूठ आदि अशुभभाव के विकल्प—उत्थान होते हैं, वह आधि है। रोग अर्थात् शरीर में बुखार रहना, फोड़ा-फुन्सी आदि को व्याधि कहते हैं। रोग-निरोग लोगों की कल्पना है; वास्तव में तो शरीर के परमाणुओं की उस काल वैसी दशा होनेयोग्य होती है, इससे वह उष्णता अथवा सड़नेरूप परिणमित होता है। लोग अपनी कल्पनानुसार-शरीर ठण्डा ही, अवयव बराबर काम कर रहे हों, पुष्टता हो, उसे निरोगता मानते हैं; जब उनकी कल्पना से अन्य प्रकार शरीर परिणमन हो, तब उसे वे रोग कहते हैं। वास्तव में रोगी-निरोगी ऐसे नाम नहीं लिखे हैं। रोग सम्बन्धी जीव की आकुलता, दु:ख को व्याधि कहते हैं; और स्त्री, पुत्र, धन, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा आदि बाह्य संयोगों के प्रति जीव की ममता को उपाधि कहते हैं।

इस प्रकार आधि, व्याधि और उपाधिरूप जीव के विकारीभाव हैं। वे अज्ञान, राग-द्वेष और आकुलतावाले हैं। उन तीन भावों से रहित, मैं चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा, शान्तस्वरूप, आनन्द का पिण्ड हूँ। समस्त बाह्य पदार्थ तथा रागादि विकारी भाव मेरा स्वरूप नहीं है;—ऐसी आत्मा की यथार्थ प्रतीति करके—'मैं आत्मा ज्ञान और निराकुल सुखस्वभाव ही हूँ'—ऐसा राग से-विकल्प से भिन्न अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, वह प्रथम सम्यग्दर्शनरूप समाधि है। यही धर्म की इकाई है;—ऐसे आत्मा के भान और अनुभव सहित देह छूटे, उसे वीतराग सर्वज्ञदेव समाधिमरण कहते हैं। भगवान ने पण्डितमरण का ऐसा स्वरूप बतलाया है।

जीव को मन के सम्बन्ध से पुण्य-पाप के भाव हों, वे आधि है। वास्तव में पुण्य-पाप के भाव, आत्मा का स्वरूप नहीं हैं, परन्तु आत्मा के स्वभाव का घात करनेवाले हैं। जगत में जिस प्रकार पवन का तूफान आने पर आँधी चढ़ती है; उसी प्रकार यह पुण्य, दया, दान, हिंसादि के भाव राग अर्थात् आकुलता का तूफान होने से आँधी की तरह हैं; उनसे भिन्न अपने त्रिकाली स्वभाव को पहचानकर उन रागादि से पार होना, वह आधि से छूटने का उपाय है; आधि से विरुद्ध समाधि है।

सच्ची समझ होने से अल्पकाल में परमात्मपद प्राप्त करने का विश्वास

जीवन में धर्म करता हूँ—ऐसा जीव माने, परन्तु अन्तरात्मा से उसे विश्वास न हो कि मुझे अब भव-बन्धन से मुक्त होना है, तो उसका जीवन और उसका किया हुआ धर्म क्या ? लोक में भी किसी पुरुष के हाथ रस्सी से बाँधे हों, उसके हाथों को कसने में 15 आंटे लगायें हों; परन्तु उस पुरुष ने प्रयत्न द्वारा रस्सी को ढ़ीला करके पाँच आंटे निकाल दिये; पाँच आंटे निकले वहाँ दूसरे पाँच आंटे निकले वहाँ दूसरे पाँच आंटे भी ढ़ीले पड़ गये और अन्तिम पाँच आंटे अभी सहज कसे हुए हैं; लेकिन उसे अन्तरविश्वास हो गया है कि अभी हाल इन दूसरे पाँच आंटों को उकेलकर अन्तिम पाँच आंटों को ढ़ीला करके सारा बन्धन दूर कर दूँगा;—ऐसा विश्वास उसे पहले से ही आ जाता है। उसी प्रकार आत्मस्वभाव की अन्तःरुचि द्वारा जीव ने सच्ची पहचान की, वहाँ देहादि तथा पुण्य-पाप के भाव मेरे

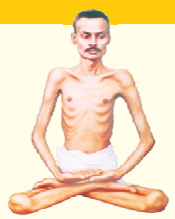

हैं—ऐसी अज्ञान मान्यतारूप बन्धन पहले ही तड़ाक्—से टूट गया है। वह सच्ची मान्यता होते ही—बन्ध का एक भाग छूटते ही राग-द्वेषादि ढ़ीले हो गये। अभी अस्थिरता है, राग है, साक्षात् श्रेणी और केवलज्ञान का पुरुषार्थ नहीं चलता,—इतना अन्तिम भाग अभी कसा हुआ है, परन्तु स्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा अल्पकाल में आत्मस्वरूप में स्थिर होकर राग-द्वेष को दूर करके केवलज्ञान प्रगट करूँगा। अस्थिरतारूप बन्धन को तोड़कर मैं अल्पकाल में पूर्ण परमात्मपद को प्राप्त करूँगा—ऐसा विश्वास अन्तर से अपने आत्मा की साक्षी से, ज्ञानी को हुए बिना नहीं रहता। इसलिए आत्मा धर्म करे और अन्तर से भव से छुटकारा होने की ध्वनि न आये—ऐसा होता ही नहीं। परन्तु वह धर्म कैसा? लोगों ने मान लिया है—ऐसा धर्म का स्वरूप नहीं है। धर्म तो अन्तरात्मा की प्रगट होनेवाली निर्मल पर्याय है; आत्मा की निर्विकारी शुद्धदशा है। सिद्ध भगवान जैसा परमानन्द का अंश है। लोग बाह्य जड़ की क्रिया में या पुण्य में धर्म मानते हैं, वह अज्ञान है, भ्रम है। उससे जीव का परिभ्रमण दूर नहीं होता।

श्रीमद् की भव-अन्त के लिए पुकार

श्रीमद् को बचपन से ही अन्तर से पुकार उठती थी कि—मुझे भव नहीं चाहिए। उन्होंने अनेक स्थानों पर भव अन्त के सम्बन्ध में लिखा है —

काया की विसारी माया, स्वरूप में समाये ऐसे;
निर्ग्रन्थ का पंथ, भव अन्त का उपाय है।

ज्ञाता-दृष्टा चैतन्य में भव अर्थात् अज्ञान, राग-द्वेष और उसके कारण से परिभ्रमण है, वह कलंक है; इसलिए मुझे भव की आवश्यकता ही नहीं है। भव अर्थात् विकारी भाव; पुण्य-पाप के विकार से रहित मैं केवल ज्ञाता-दृष्टा आनन्दस्वरूप हूँ। मेरे त्रिकाली स्वरूप में भव नहीं है। मात्र वर्तमान अवस्था में विकार है, वह मेरा यथार्थ स्वरूप नहीं है; इससे विकार और उसके फल-भव की मुझे आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न— भव हो तो दूसरे जीवों का भला किया जा सके न? यदि भव हो तो शरीर हो, और शरीर हो तो दूसरों की सेवादि कर सकते हैं; इसलिए भव क्या बुरा है।

उत्तर—अरे भाई! एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ भला-बुरा कर सकता है—यह बात ही बिल्कुल मिथ्या है। सामनेवाले जीव का भला-बुरा होना, सुखी-दु:खी होना उसके परिणामों के आधार से है। उसे कोई दूसरा जीव सुखी-दु:खी नहीं कर सकता। और सामनेवाले जीव को सुख या दु:ख बाह्य संयोगों के कारण नहीं हैं। परपदार्थ से मुझे सुख-दु:ख होता है—ऐसी अज्ञान मान्यता से, पर में सुख-दु:ख की कल्पना करता है। वास्तव में वह कल्पना उसे कल्पित सुख (जो वास्तव में दु:ख ही है) और दु:ख का कारण है। सामनेवाला जीव यदि उसकी कल्पना छोड़ दे तो सच्चा सुख प्राप्त करे। इसलिए कोई जीव किसी जीव को सुख करता है—ऐसी मान्यता बिल्कुल भ्रम है; और उसके लिए जो भव की कामना करे वह भी, बिल्कुल मूढ़ है। सभी जीव सच्चा समझनेरूप पुरुषार्थ नहीं करते—कोई-कोई अल्प जीव सत्य समझने का पुरुषार्थ करते हैं और उनका भव अन्त होता है। इसलिए जीव को अपना कल्याण करने के लिए अपना स्वरूप समझकर परिभ्रमण का अन्त करना चाहिए। मुझे भव ही नहीं चाहिए, भव अन्त का यह समय आया है। सच्चा समझने का समय आया है, वहाँ यदि अन्तर समझने का पुरुषार्थ करे तो शीघ्र ही भव का अन्त हो जाये। लोग मानते हैं कि पर का कुछ भला करना चाहिए; लेकिन भाई! पर का भला कौन कर सकता है? सबसे निकटस्थ इस शरीर में यदि कोढ़ के धब्बे हो गये हों तो उन्हें भी नहीं बदल सकता; तब फिर दूरस्थ परपदार्थों में वह क्या करेगा? क्या उसे कोढ़ के धब्बे रखने का भाव है? धब्बे शरीर की अवस्था है। शरीर को—उन परमाणुओं को—जिस समय जिसरूप परिणमित होना हो, वैसे ही परिणमित होते हैं। अचेतन जड़ शरीर अपनी अवस्था बदलने में स्वतन्त्र है; उसमें किसी दूसरे का हाथ काम नहीं कर सकता अर्थात् उसे दूसरा कोई पदार्थ पलटा नहीं सकता; इसलिए हे जीव! पर के कर्तृत्व की मान्यता को तू छोड़ देना और राग-द्वेष को छोड़ना—वह निर्ग्रन्थ का पंथ भव के नाश का उपाय है।

सम्यग्ज्ञानी साधक जीव को पुरुषार्थ की कचास के कारण राग, विकल्प रह गया, उसके करण एकाध भव होता अवश्य है, परन्तु निर्ग्रन्थ का मार्ग, भव बतलाने का नहीं है; वे तो भव से रहित केवल स्वभाव ही बतलाते हैं।

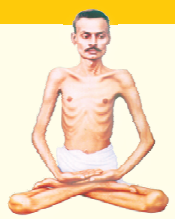

ईश्वर वीतराग है, साक्षी है, वह भव नहीं देता

अनेक लोग ऐसा मानते हैं कि ईश्वर भव—स्वर्ग-नरकादि देता है—वह बात सत्य नहीं है। भगवान तो सर्व के ज्ञाता, वीतराग निर्दोष हैं; उनके किसी को भव—स्वर्ग-नरकादि देने की इच्छा नहीं होती। यदि उनके इच्छा मानी जाये तो, भगवान सब के साक्षी-ज्ञाता और निर्दोष-राग, विकार रहित नहीं रहते; भगवान दोषी हो जायेंगे, परन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिए भगवान सर्वज्ञ इच्छा रहित वीतराग हैं; वे किसी को स्वर्गादि नहीं देते। स्वर्गादि गतियाँ जीव अपने शुभादि परिणामों से प्राप्त करना है।

परिभ्रमण के नाश की अन्तर्लगन

भाई! तुझे भवभ्रमण के त्रास हुआ है? 'मुझे अब भव नहीं चाहिए, आत्मा की यथार्थ पहचान करके उसका अन्त लाना है'—ऐसी अन्तर से लगन हुई है? श्रीमद् राजचन्द्रजी को छोटी आयु से ही अन्तर में से ध्वनि उठती थी कि—'मुझे यह भव-यह परिभ्रमण नहीं चाहिए!' आत्मा, परपदार्थ के आश्रय से रहित स्वतन्त्र पदार्थ है; उसे परपदार्थ का आश्रय मानना, वह भयंकर भावमरण है। ज्ञानी पुरुष, जगत् के जीवों को सम्बोधन कर कहते हैं कि—'अरे जीवो! प्रतिक्षण होनेवाले भावमरणों में तुम कहाँ लीन हो रहे हो।'

भव का नाश करने की वह भावना अथवा समाधि की भावना श्रीमद् को यहीं राजकोट में आज (वैशाख वदी पंचमी के दिन) पूरी हुई थी अर्थात् उनका समाधिमरण राजकोट में आज के दिन हुआ था। भव के अन्त का एकमात्र उपाय आत्मा की यथार्थ पहचान करना है। यही आत्मा के तरने का उपाय है। इसी पंथ से अनन्त आत्मा भूतकाल में तरे हैं और भविष्यकाल में भी तरेंगे।

श्रीमद् अन्तर से बहुत उदासीन थे। बम्बई जैसे प्रवृत्तिवाले शहर में रहने पर भी, बम्बई को 'मोहमयी नगरी' उपमा देकर, उसे उपाधिमय कहकर, व्यापारादि की उपाधि में युक्त होने से इन्कार करते थे; अर्थात् उपाधिमय भाव से निवृत्ति की भावना भाते थे।

आधि, व्याधि और उपाधिरहित आत्मा की समाधि की बात सभी जीव समझ सकते हैं। आठ वर्ष के बालक भी आत्मा की सच्ची पहचान और समाधि प्रगट कर सकते हैं।

श्रीमद् ने 29वें वर्ष में आत्मसिद्धि शास्त्र बनाया है। उसके प्रथम पद में कहा है कि —

जो स्वरूप समझे बिना, पायो दुःख अनन्त।
समझाया तत्पद नमूँ, श्री सद्गुरु भगवन्त ॥1॥

आत्मसिद्धि में प्रथम ही कहा है कि—जीव ने अपना सच्चा स्वरूप समझे बिना अनन्त दुःख पाया है; लेकिन वहाँ ऐसा नहीं कहा है कि—जीव ने परोपकार नहीं किया, कुटुम्ब का भला नहीं किया, पर जीवों की दया नहीं पाली, यात्रा, पूजादि नहीं किए, इसलिए उसने अनन्त दुःख पाये। क्योंकि जीव ने वह सब तो अनन्त बार किया है; मात्र एक अपना सच्चा स्वरूप ही नहीं समझा, और उससे अनन्त काल से अज्ञान के कारण अनन्त दुःख पाये हैं। इसलिए जो जीव, शरीर और रागादि विकारीभावों से रहित अपने शुद्धस्वरूप को समझे, उसके दुःख दूर होने का यह उपाय कहलाता है। जिन्हें समझने की रुचि नहीं है, वे तो संसार में ऐसे के ऐसे रहनेवाले हैं।

जीव ने अपने स्वरूप की सच्ची समझ के बिना अनन्त दुःख पाये। वहाँ, अनन्त का अर्थ—कालक्रम से अनन्त दुःख पाये—ऐसा नहीं; परन्तु अनन्त परपदार्थों से भिन्न अनन्त ज्ञानदर्शनरूप, अनन्त निराकुल आनन्द स्वभावरूप सुखस्वभाव का, अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण वर्तमान अवस्था में अस्वीकार करके अनन्त-अनाकुल स्वभाव से विपरीत दशा उत्पन्न की—यही वर्तमान एक समय की पर्याय में अनन्त दुःख है। इस प्रकार समय-समय करके अनन्त काल से जीव दुःखदशा भोग रहा है; परन्तु आत्मा की सच्ची समझ से उस दुःख का नाश हो जाता है। इससे कहा है कि —

'समझाया उन पद नमूँ, श्री सद्गुरु भगवन्त।'

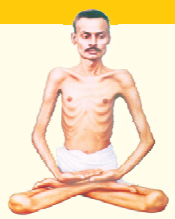

जिनके पास से स्वरूप की यथार्थ समझ प्राप्त हुई—ऐसे गुरु की यहाँ विनय की है। इस भव में श्रीमद् को—अपने को गुरु नहीं मिले थे, परन्तु पूर्व के स्मरण में जो गुरु थे, उनकी बहुमान पूर्वक विनय करके यह प्रथम श्लोक किया है। आत्मसिद्धि पूर्ण करते हुए अन्त में लिखा है कि —

देह रहते जिनकी दशा, वर्ते देहातीत।
उन ज्ञानी के चरण में, हो वन्दन अगणित॥१४२॥

लोग तत्त्व का यथार्थ स्वरूप समझते नहीं है और ऊपर से ज्ञानी जैसी भाषा करते हैं—इसमें सत्य नहीं है। तालाब में बीच की और किनारे की सपाटी बाहर से तो समान मालूम होती है, परन्तु बाँस द्वारा उसकी गहरायी का माप लिया जाये तो किनारे पर पानी चार अंगुल होता है और बीच में दस-बीस हाथ गहरा होता है। इसी प्रकार जिसे तत्त्व का वास्तविक ख्याल नहीं है, उसे ऊपर से तो ऐसा ही लगता है कि सभी उपदेशक आत्मा की ही बात करते हैं; किन्तु यदि तत्त्व के मूल में जाकर गहराई से—गम्भीरतापूर्वक उसका वास्तविक अभ्यास करे तो उसे वीतरागमार्ग और दूसरे (धर्म के नाम के) उपदेशकों के बीच पूर्व-पश्चिम जितना महान अन्तर मालूम होगा। जीवन का सच्चा स्वरूप क्या है ? विकार का स्वरूप क्या है ? विकार का कारण क्या है ?—कर्म, पर पदार्थ या आत्मा की भूल ? उसे दूर करने का क्या उपाय है ? आदि तत्त्व का यथार्थ स्वरूप अत्यन्त गहन है। उसे बराबर समझना चाहिए।

वास्तव में देहातीत का क्या स्वरूप है ? देहातीत किसे कहना चाहिए ? कोई मार डाले, शरीर को काट डाले और मुँह से आह तक न करे तो वह कहीं देहातीत नहीं है, क्योंकि आत्मा के भानरहित जीव भी युद्ध के प्रसंग पर मान के लक्ष्य से, शरीर कट जाने पर भी मुँह से आह नहीं निकालते और स्त्रियाँ भी घासलेट छिड़क कर जल मरती हैं, तो भी मुँह से आह तक नहीं निकालतीं; तो क्या वह देहातीत है ? नहीं; जिसे शरीर, वाणी आदि परपदार्थों से भिन्न—ऐसे अपने आत्मा का यथार्थ भान है, देह पर मेरा अधिकार नहीं है; देह, ज्ञानावरणीयादि कर्मों के समूहरूप बना हुआ कार्मणशरीर और राग-द्वेष,

दया-दान के शुभ-परिणाम और अशुभ-परिणाम—इन सब के पार आत्मा हैं; आत्मा में यह सब नहीं है। पर तथा शुभाशुभ विकार से भिन्न ऐसे अपने स्वरूप को समझ लिया—वही आत्मा देहातीत हुआ है। स्वरूप की सच्ची समझ होने से वह ऐसा जानता है कि—'यह जो शुभाशुभ विकार है, वह मैं नहीं हूँ; यह शरीर, वाणी आदि मैं नहीं हूँ, मैं ज्ञाता हूँ और वह मेरे ज्ञेय हैं।'

'मैं कर्ता हूँ और शरीरादि की कोई क्रिया मेरा कार्य है, मैं भोक्ता हूँ और वे मेरे योग्य हैं'—ऐसा नहीं है। वास्तव में तो शुभाशुभ विकार, दयादि की वृत्तियाँ मेरा कार्य और भोग्य नहीं हैं; परन्तु शुद्ध ज्ञान स्वभाव प्रगट करके उसका अनुभव करना ही मेरा कार्य और भोग्य है।' ऐसा भान होने पर भी अवस्था में निर्बलता के कारण वृत्ति उठे तो उसकी उन्मुखता सर्वज्ञ भगवान तथा ज्ञानियों की ओर रहे, परन्तु विषय-कषायादि अशुभभाव में न रहे। ऐसा 'समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवन्त।'—इस कथन का रहस्य है। श्रीमद् के कथन का रहस्य न समझकर, रागी-पक्षवाले उनके शब्दों को खींचते हैं। (—आग्रह से, लिखे अनुसार शब्दार्थ करते हैं, परन्तु उनका हेतु नहीं समझते।) और द्वेषी उनकी निन्दा करते हैं। दो में से कोई भी श्रीमद् के आशय को नहीं जान सकते।

श्रीमद् राजचन्द्र ने ऐसा क्या किया है कि उनके समाधिमरण की प्रशंसा की जाती है ? श्रीमद् ने अपनी एक कविता में लिखा है —

अवश्य कर्म का भोग जो, भोगना अवशेष रे;
इससे देह एक ही धारकर, जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे॥

और उसी में पहले पद में कहते हैं —

धन्य रे दिवस यह अहो, जागी रे शान्ति अपूर्व रे;
दस वर्ष में रे धारा उल्लसी, मिटा उदय कर्म का गर्भ रे॥

श्रीमद् को अन्तर में आत्मा का भान था। उनके चैतन्य-जागृत सत्ता की पहचान हुई है, तथापि अस्थिरता है, उतना राग है। इतनी कचास के कारण देह छूटने से इसी भव

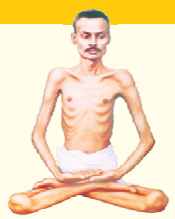

में मुक्ति नहीं होती; परन्तु अन्तर में उन्हें विश्वास है कि इस अस्थिरता को—कचास को—शुभाशुभरूप बाह्य उत्थान को दूर करके पूर्ण वीतराग हो जाऊँगा; स्वदेश जाऊँगा। अपने आत्मा में पूर्ण होना, स्वरूप में पूर्ण समा जाना—वह स्वदेश में जाना है; आत्मा के अतिरिक्त कोई बाह्यक्षेत्र स्वदेश नहीं है। अब एक देह धारण करके, अन्तर में स्थिर होकर स्वदेश जाऊँगा। ऐसे आत्मभानपूर्वक और आत्मशान्ति सहित उनका मरण / देह का वियोग होने से उसकी प्रशंसा की जाती है।

'अपूर्व अवसर' में भी स्वकाल की अर्थात् स्वपर्याय की शुद्धता की भावना है। अपूर्व अवसर में पहले पद में भावना भाते हैं कि —

अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा,
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब।
सम्बन्धों का बन्धन तीक्ष्ण छेद कर,
विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥

अन्तरात्मा का भान हुआ है, परन्तु स्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा अन्तर अस्थिरता के रागादि को तोड़कर स्वरूप में विशेष स्थिर होकर आभ्यन्तर और बाह्य निर्ग्रन्थ कब होऊँगा ? बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थ स्वकाल कब प्रगट करूँगा ? ऐसा अपूर्व अवसर—अपूर्व निर्मल शुद्धदशा हमें कब प्रगट होगी ? ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? कब निर्ग्रन्थ होऊँगा ? इस प्रकार श्रीमद् ने निर्ग्रन्थ होने की भावना भायी है। अन्तर स्वभाव में लीनता करके, अन्तर में स्थिर होकर अपूर्व स्वभावदशा-स्वकाल-अपूर्व स्व—रमणता कब प्रगट करूँगा ? ऐसी अन्तर की भावना भायी है।

33 वर्ष की देहस्थिति में उन्होंने ऐसी भावना भायी है। 33 वर्ष की छोटी आयु में उनका देह-त्याग हुआ था। कोई ऐसा कहता था कि उन्होंने व्यापारादि में व्यवसाय-उपाधि बहुत की, इसलिए छोटी आयु में उनका शरीर इतना क्षीण हो गया और छूट गया।

परन्तु कहनेवाले की यह बात मिथ्या है। भाई! जिस समय देह छूटना हो, परमाणुओं की जिस समय जो अवस्था होना हो, वह उसी समय उसी प्रकार होती है; उसमें कोई कुछ आगे-पीछे नहीं कर सकता। बहुत चिन्ता करे, इसलिए देह जल्दी छूट जाती है—यह बात सत्य नहीं है। बहुत उपाधि करे तो देह क्षीण होती है और कम उपाधि करे तो देह हृष्ट-पुष्ट रहती है—यह बात बिल्कुल मिथ्या है। जीव चिन्ता करे तो उसकी शान्ति कम होती है, और आकुलता बढ़ती है—यह बात सच है, परन्तु चिन्ता-अचिन्ता से शरीर में रोग-निरोगता हो—ऐसा नहीं होता। श्रीमद् के शरीर में जब संग्रहणी-शरीर के परमाणुओं की वैसी अवस्था—होना थी, तब हुई।

और वे अपूर्व अवसर में शत्रु-मित्र के प्रति द्वेष और राग की वृत्ति रहित समदर्शी स्वभाव तथा भव का नाश करना और मोक्ष प्रगट करना—ऐसे दोनों विकल्पों से रहित केवल शुद्ध स्वभाव की—केवल साक्षी स्वभाव की भावना भाते हैं।

शत्रु-मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता,
मान-अमान में वर्ते ही स्वभाव जब।
जन्म-मरण में हो नहिं न्यून-अधिकता,
भव-मुक्ति में भी वर्ते समभाव जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा?

इस आत्मा को बाह्य में कोई शत्रु-मित्र है ही नहीं। आत्मा का शत्रु अज्ञान और राग-द्वेष विकारी परिणाम हैं और मित्र, चैतन्य आनन्दकन्द त्रिकाली स्वभाव है। कहा है कि —

पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं, कि बहिया मितमिच्छसि

हे जीव! तू ही अपना भिन्न है, तू बाह्य मित्र की इच्छा क्यों करता है? वास्तव में कोई तेरा मित्र नहीं है। और मान-अपमान किसके? सामनेवाले जीव को जो ठीक लगे—जो उसे अनुकूल हो, वैसे अपने भाव करता है। उसे न रुचे तो उसका (अपना)

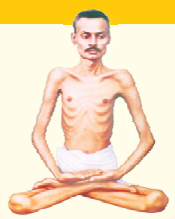

अनादर करता है, और रुचे तो अपनी रुचि का आदर करता है। पर का आदर-अनादर कोई नहीं करता।

पुन:श्च, 'जीवन के मरणे नहीं न्यूनाधिकता'—मरण हो तो ठीक नहीं है, और जीवन हो तो ठीक है; अथवा ऐसा क्यों ? ऐसी न्यूनाधिकता जिसमें नहीं है—ऐसे मुनिपद की वे भावना भाते हैं। शरीर के संयोग-वियोग की जिस काल में जो दशा होना हो, वैसी होती है। जीवन के समय जीता है अर्थात् शरीर, जीव के साथ एक क्षेत्र में रहता है, और मरण समय शरीर छूटता है; अपने-अपने समय सब अपना-अपना कार्य करते हैं; उसमें ऐसा हो तो अच्छा,—ऐसा न्यूनाधिक अर्थात् ठीकाठीक का भाव जिसमें नहीं है—ऐसे स्वभाव पद की यह भावना है।

'भव मोक्षे पण वर्ते शुद्ध समभाव जो'—मैं ज्ञान-दर्शन स्वभाव में रहनेवाला हूँ, भव और मोक्ष—ऐसे दो भेदों का—दो विकल्पों का आश्रय करनेवाला मैं नहीं हूँ। कोई कहे कि तेरी इसी भव में मुक्ति है, तो भी क्या ? मुझमें वास्तव में भव कहाँ है ? और मोक्ष पर्याय जितना ही मैं कहाँ हूँ ? मैं तो त्रैकालिक ज्ञान-दर्शन स्वभाव हूँ, भव-मोक्ष की पर्यायों जितना अथवा उन दोनों के विकल्प जितना मैं नहीं हूँ, उन दोनों पर्यायों में मुझे समभाव है, अर्थात् उन दोनों के विकल्पों की ओर मेरी उन्मुखता नहीं है, मैं उनका ज्ञाता हूँ, ज्ञाता-दृष्टा-साक्षीमात्र हूँ।

आत्मस्वभाव की महिमा करते हुए, वह स्वभावपद वाणी से अगोचर है, पूर्णतया—सन्तोष हो ऐसे सर्व प्रकार से—वाणी में उसका कथन नहीं आ सकता—ऐसा कहते हैं—

जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में,
कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।
उस स्वरूप को अन्य वचन से क्या कहूँ,
अनुभवगोचार मात्र रहा वह ज्ञान जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा ?

भगवान सर्वज्ञदेव ने अपनी निर्मलदशा में—केवलज्ञान में आत्मा को जैसा पूर्ण देखा है, वैसा ही उसे वाणी द्वारा वे भी पूर्णरूप से नहीं कह सके। अल्पज्ञ को तो अल्पज्ञान होने से उसे वाणी में निमित्तता अल्प है, परन्तु सर्वज्ञ भगवान—कि जिनको परिपूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ है; मोह-राग-द्वेषादि दोषों का सर्वथा नाश हुआ है, एक समय में तीन काल-तीन लोक के पदार्थों को एकसाथ पूर्ण जानते हैं—उनकी दिव्यध्वनि भी उस आत्मस्वभाव का पूरा वर्णन नहीं कर सकती; तो फिर अल्पज्ञ की तो बात ही क्या ? आत्मस्वभाव मात्र स्वानुभवगोचर है। स्वयं उसकी पहचान करके—अनुभव करके उसका पार प्राप्त किया जाता है।

अन्तिम पद में कहते हैं —

यही परमपद पाने को धर ध्यान जब,
शक्तिविहीन अवस्था मनरथरूप जब।
तो भी निश्चय 'राजचन्द्र' के मन रहा,
प्रभु आज्ञा से होऊँ वही स्वरूप जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा ?

पुण्य-पाप के विकार से रहित आत्मा के पूर्णपद की प्राप्ति के लिए मैंने ध्यान किया है। मेरा ध्येय अर्थात् लक्ष्य एक आत्मा का पूर्ण शुद्धपद ही है। दूसरा कोई मेरा ध्येय नहीं है; शुभ विकार या उसके फलरूप देवादि के संयोग मेरे लक्ष्य नहीं हैं। मेरा ध्यान तो पूर्ण शुद्धात्मपद की प्राप्ति में है; तथापि इसी भव में वह पूर्णपद प्राप्त कर सकूँ—ऐसा मेरा पुरुषार्थ नहीं है; इससे—'गजा वगर ने हाल मनोरथरूप जो।'

वर्तमान पूर्ण पुरुषार्थ न होने से सामर्थ्य (शक्ति) हीन हूँ, तथापि वर्तमान में मनोरथ-मनरूपी रथ के पहिये—पूर्णानन्द स्वभाव की ओर ही दौड़ रहे हैं,—पुण्य-पाप की ओर नहीं दौड़ते। 'तोपण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो।' और मेरा मनोरथ पूर्णस्वभाव की ओर दौड़ता होने से, श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—मेरे आत्मा को विश्वास है कि—'प्रभु आज्ञाअे थाशुं तेज स्वरूप जो।' सर्वज्ञ भगवान ने स्वयं वह

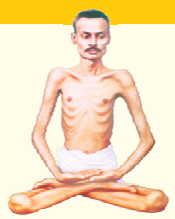

परमपद प्रगट करके उसका जो पंथ कहा है, उन्होंने जो आज्ञा की है, वह मेरे ध्यान में है। जिस प्रकार उन्होंने परमपद का पंथ कहा है, उस प्रकार स्थिर होने से 'थाशुं तेज स्वरूप जो।' अर्थात् मैं स्वयं परमपदरूप हो जाऊँगा।

त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर भगवान ने आत्मा का जैसा स्वभाव कहा है, वैसा समझना वह उनकी आज्ञा है। 'आ'=मर्यादा, 'ज्ञा'=अन्तरज्ञान करना। आत्मादि पदार्थों का जैसा स्वरूप है, वैसा उनकी स्वरूप-मर्यादानुसार समझना, वह भगवान की आज्ञा है। इस प्रकार शरीरादि पर से तथा रागादि विकार से रहित आत्मा की पहचान हुई है; और जो कुछ अपूर्णता रह गई है, उसका नाश करके पूर्ण होऊँगा। ऐसी भावनापूर्वक आज के दिन श्रीमद् ने राजकोट में समाधिमरण किया था।

कोई कहते हैं कि श्रीमद् ने यहाँ से मरकर सीधा मनुष्यभव धारण किया है; वे महाविदेह—क्षेत्र में इस समय मनुष्यरूप से हैं और उन्हें केवलज्ञान हुआ है,—यह बात बिल्कुल मिथ्या है। श्रीमद् ने महाविदेह में मनुष्यरूप से जन्म नहीं लिया है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर (कर्मभूमि में) मनुष्य होता ही नहीं। यदि मनुष्य मरकर मनुष्य हो तो वह तो मूढ़—मिथ्यादृष्टि होता है। श्रीमद् मरकर मनुष्य हुए हैं—ऐसा कहनेवाले स्वयं श्रीमद् को मूढ़-मिथ्यादृष्टि सिद्ध करते हैं—उसका उन्हें भान नहीं है। ज्ञानी मनुष्य मरकर देव में ही जाता है—ऐसा नियम है।

अन्तरस्वभाव की भावना भाते हुए देह छूटे, आत्मा की शान्तिपूर्वक देहवियोग हो, उसे समाधि कहते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा जो कुछ करे, वह समाधि नहीं है।

श्रीमद् मोक्षमाला में 'अमूल्य तत्त्वविचार' के पाठ में कहते हैं कि —

मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दु:खमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिए।
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिए।

किसका वचन उस तत्त्व की उपलब्धि में शिवभूत है
निर्दोष नर का वचन रे! वह स्वानुभूति प्रसूत है।
तारो अरे! तारो निजात्मा, शीघ्र अनुभव कीजिये
सर्वात्म में समदृष्टि दो, यह वच हृदय लख लीजिये॥

हे जीव! तू अपने आत्मा को पहचानकर सर्वात्म में समदृष्टि कर! किसी के प्रति विषमभाव रखने से तुझे क्या प्रयोजन है? सामनेवाला जीव उसके अपने भावों से तरता है और अपने ही द्वारा डूबता है। तू अपने में समभाव रख! ठीक-अठीक भाव रहित सर्व को देख और जान! ऐसी भावना रखते हुए देह छूटे, उसे समाधिमरण कहते हैं। अनन्त जीवों को पूर्व में ऐसा समाधिमरण हो गया है और वर्तमान में जिन्हें आत्मज्ञान है तथा भविष्य में जिन्हें होगा, उनको देह समाधिमरणपूर्वक छूटेगी; इसलिए यह समाधिमरण अनुमोदन करनेयोग्य है।

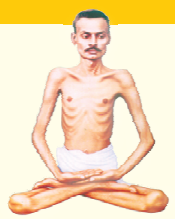

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों में कृपालुदेव श्री राजचन्द्रजी के वचनामृत में से उद्धृत उद्बोधन

(श्री समयसार परमागम के 18वीं बार के प्रवचन, प्रवचनरत्नाकर में से संकलित)

कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी इस युग के महान तत्त्ववेत्ता हुए हैं। लघु वय में ही उनके क्षयोपशम ज्ञान और विशाल बुद्धि की समग्र भारत भर में छाप थी। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को सम्प्रदाय परिवर्तन में निमित्तभूत परमागम समयसार का प्रकाशन श्रीमद् राजचन्द्रजी के सद्प्रयासों का सुफल है। यही कारण है कि पूज्य गुरुदेवश्री को भी श्रीमद् राजचन्द्र के प्रति विशेष बहुमान का भाव था जो उनके प्रवचनों में उद्घाटित होता रहा है। यद्यपि श्रीमद् सम्बन्धी उनके उद्गार प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, तथापि यहाँ समयसार परमागम पर 18वीं बार के प्रवचनों में समागत श्रीमद् राजचन्द्र के वाक्यांश सम्बन्धी उद्गारों को यहाँ संकलित कर प्रस्तुत किया जा रहा है।

1

यह तो दिगम्बर सन्तों-मुनियों के सिद्धान्त, इनका क्या कहना ? श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है न कि **उनके एक-एक शब्द में, एक-एक वाक्य में आगम भरे हैं।**

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर, भाग 1, पृष्ठ 15

2

अहा ! श्रीमद् ने कहा है न कि **सम्यग्दर्शन होने पर श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान प्रगट हुआ।** अनादि से स्वयं शक्ति से सर्वज्ञ होने पर भी, मैं अल्पज्ञ हूँ—ऐसा मानता था। वह सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर मैं पूर्णानन्द सर्वज्ञस्वभावी हूँ, ऐसा श्रद्धा में आया; इसलिए श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान वर्तता है, ऐसा श्रीमद् ने लिया है। जिस श्रद्धा में सर्वज्ञ की

मान्यता नहीं थी, उस श्रद्धा ने सर्वज्ञ तत्त्व को प्रतीति में लिया। इस अपेक्षा से सर्वज्ञपना प्रगट हुआ, ऐसा कहा जाता है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर, भाग 1, पृष्ठ 22

3

श्रीमद् ने कहा है न कि **सत्पुरुष को खोज।** उपदेश और उपदेशक दोनों वीतरागता के पोषक होना चाहिए। देखो, निमित्त तो यथायोग्य होता है। वीतरागता के वचन तो ऐसे होते हैं कि वे एकदम आत्मा का आश्रय कराकर पर का आश्रय छुड़ाते हैं।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 1 पृष्ठ 165

4

श्रीमद् ने कहा है न कि **वह दिव्य अन्तःतत्त्व जिससे बन्धनों से मुक्त हो।** भगवान दिव्य शक्तिमान—अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त स्वच्छता इत्यादि शक्तियों से भरपूर भगवान आत्मा जंजीर में अर्थात् कैद में है, उसमें से मुक्त हो। राग की एकता और पर का अवलम्बन, वह सब कैद है। क्या उसके अवलम्बन से आत्मा का ज्ञान होगा? कभी नहीं होगा। भगवान आत्मा चैतन्य के तेज से दिव्यरूप से विराज रहा है। उसे सीधा ही आश्रय करके विश्वास में-प्रतीति में लेने से ज्ञान होता है, तब वह दिव्य शक्तिमान है, ऐसा ज्ञात होता है। — गुजराती, प्रवचन रत्नाकर भाग 1, पृष्ठ 175

5

श्रीमद् राजचन्द्र ने अमूल्य तत्त्वविचार में कहा है न कि —

वह दिव्य अन्तःतत्त्व जिससे बन्धनों से मुक्त हो।

आहाहा! आत्मा दिव्य शक्तिमान प्रभु वीतरागी परमानन्द से भरपूर अनन्त शक्तियों का भण्डार चित्चमत्कारस्वरूप भगवान है। उसे 'यह पर का करूँ' ऐसा मिथ्या अध्यवसाय जंजीर अर्थात् जेल है (क्योंकि उसे यह अध्यवसाय चौरासी लाख के अवतार में—जेल में ढकेल देता है।) — गुजराती, प्रवचन रत्नाकर, भाग 1, पृष्ठ 175

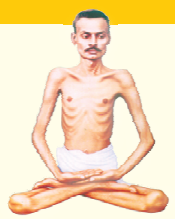

6

श्रीमद् ने कहा है न **'लक्ष थवानू तेहनूं कह्यां शास्त्र सुखदायी'** गुरु भी सर्वज्ञ की वाणी अनुसार शास्त्र कहते हैं।

— गुजराती, प्रवचन रत्नाकर, भाग 1, पृष्ठ 180

7

श्रीमद् ने कहा है कि **अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।** — गुजराती, प्रवचन रत्नाकर, भाग 1, पृष्ठ 200

8

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि — **अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।** भाई! अन्दर त्रिकाली शुद्ध अभेद चीज पड़ी है। उसके ऊपर दृष्टि दिये बिना कोई व्रतादि के विकल्प से, राग से, भेद से और निमित्त से सम्यग्दर्शन प्रगट हो, ऐसा तीन काल में नहीं बनता। और श्रीमद् कहते हैं कि—

अनेकान्तदृष्टि युक्त एकान्त की जो सेवा करता है अर्थात् कि पर्यायादि भेद का ज्ञान करके जो अभेद का सेवन करता है, वह सम्यक्रूप से सर्व से, सर्व प्रकार से मैं भिन्न हूँ, ऐसा जानता है। एक केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र एकान्त शुद्ध अनुभवरूप मैं हूँ, मैं एकान्त शुद्ध आनन्दस्वरूप हूँ। देखो! दुःख है, अशुद्धता है, यह बात नहीं की। सम्यग्दर्शन में सम्यक् एकान्त होता है। आहाहा! अचिन्त्य सुख परमोत्कृष्ट सुखमात्र एकान्त शुद्ध अनुभवरूप मैं हूँ। वहाँ विक्षेप क्या? विकल्प क्या? भय क्या? खेद क्या? दूसरी अवस्था क्या? मैं तो मात्र निर्विकल्प निजस्वरूपमय उपयोग करता हूँ। तन्मय हो तो शान्ति, शान्ति, शान्ति। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 4, पृष्ठ 245

9

श्रीमद् राजचन्द्र ने लिखा है कि **अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की**

प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य हेतु से उपकारी नहीं है। आहाहा! सम्यक् एकान्त ऐसा (निज शुद्धात्मा का) निश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो, तब पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक शास्त्र के ज्ञान का विकल्प, नव तत्त्व की श्रद्धा का विकल्प और पंच महाव्रत का विकल्प उसे होता है और उसे व्यवहार से आरोप देकर साधन कहा जाता है। जो साधन नहीं है, उसे साधन कहना, वह व्यवहार है। इस प्रकार द्रव्य-पर्याय को यथास्थित जानना, वह अनेकान्त है।

अरे! निश्चय से होता है और व्यवहार से भी होता है, ऐसी अनेकान्त के नाम से लोगों ने बहुत गड़बड़ कर डाली है। बापू! वह तो फुदड़ीवाद है, मिथ्या एकान्त है, भाई! (निश्चय से ही होता है और व्यवहार से नहीं होता, यह अस्ति-नास्तिरूप सम्यक् अनेकान्त है)। मोक्षमार्गप्रकाशक में सातवें अधिकार में इसका बहुत स्पष्टीकरण आता है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 8, पृष्ठ 276

10

श्रीमद् ने कहा है न —

वचनामृत वीतराग के परम शान्तरस मूल;
औषध जो भवरोग के, कायर को प्रतिकूल।

अन्तर में भगवान आत्मा शक्ति से मोक्षस्वरूप विराजमान है। ऐसे निजस्वभाव का आश्रय करने से जितनी वीतरागता-निर्मलदशा उत्पन्न होती है, वह मोक्षपन्थ है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 1, पृष्ठ 239

वीतराग के वचन शान्तरस-वीतरागरस के प्रेरक हैं और वे भवरोग को मिटानेवाले महा-औषध हैं परन्तु शुभभाव में ही रक्त ऐसे कायरों को वे प्रतिकूल पड़ते हैं।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 6, पृष्ठ 67

11

श्रीमद् ने भी लिया है न कि **श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान वर्तता है, विचारदशा से**

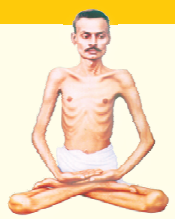

केवलज्ञान हुआ है, इच्छादशा से केवलज्ञान हुआ है। इच्छा-भावना उसी की है, इस अपेक्षा से केवलज्ञान हुआ है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 1, पृष्ठ 248

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि —

यदि अभी प्रगटरूप से वर्तमान में केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई नहीं, परन्तु जिनके वचन के विचारयोग से—

*** शक्तिरूप से केवलज्ञान है, ऐसा स्पष्ट जाना है,**

*** ऐसे श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है,**

*** विचारदशा से केवलज्ञान हुआ है,**

*** इच्छादशा से केवलज्ञान हुआ है,**

*** मुख्यनय के हेतु से केवलज्ञान वर्तता है,**

पहले अपना केवलज्ञानस्वभाव माना नहीं था, केवलज्ञान का स्वरूप माना नहीं था। वह अपना शुद्धस्वपरप्रकाशी एक ज्ञायकभाव श्रद्धान में और ज्ञान में आया, वहाँ 'श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है' ऐसा कहा। केवलज्ञान तो तेरहवें गुणस्थान में होगा, यह तो समकिती को आत्मा का केवलज्ञानस्वभाव प्रतीति में आया है तो श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है, ऐसा कहा है। हे भाई! तू ऐसे केवलज्ञानस्वभावी आत्मा की प्रतीति कर न!

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 8, पृष्ठ 167-68

12

श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि—**श्वेताम्बर की शिथिलता-ढिलाई के कारण रस शिथिल पड़ जाता है, जबकि दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण रहस्य समझा जा सकता है।** यह तो श्रीमद् ने मिठास से कहा है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 2, पृष्ठ 12

13

श्रीमद् ने आत्मसिद्धि में कहा है कि—

मोक्ष कहा निज शुद्धता वह पावे सो पन्थ,
समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्ग्रन्थ।

श्रीमद् राजचन्द्र के आत्मसिद्धि शास्त्र में पहले ही छन्द में ऐसा कहा है—

जो स्वरूप समझे बिना, पाया दुःख अनन्त,
समझाया उन पद नमूँ, श्री सद्गुरु भगवन्त।

यहाँ जो पद समझाया अर्थात् कि जो आत्मपद मुझे समझ में आया, उस पद को (स्वरूप को) मैं नमन करता हूँ, ऐसा कहते हैं। जैसा स्वरूप है, वह पहले समझ में आया। उस पद को नमन करता हूँ। और सोलहवें वर्ष में 'बहुपुण्य पुँज प्रसंग से...' इस काव्य में ऐसा कहा है कि—

मैं कौन हूँ? आया कहाँ से और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दुःख में कौन है स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेकपूर्वक शान्ति होकर कीजिए
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिए।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 2, पृष्ठ 27

14

श्रीमद् में (आत्मसिद्धि में) 'उदय होय चारित्र का' ये शब्द आते हैं। जैसे कि—

वर्धमान समकित हुए टाले मिथ्याभास
उदय होय चारित्र का, वीतराग पदवास।

वह इस (आत्मा के आचरण का) उदय। यह तो व्रत करो, संयम पालन करो, चारित्र पालन करो तो तुम्हें निश्चयसमकित होगा, ऐसा कहा जाता है। परन्तु अरे रे! राग की एकता में पड़ा हो, इससे परिभ्रमण के भाव सेवन करता है और उससे अपरिभ्रमण की समकित दशा प्रगट हो, ऐसा किस प्रकार होगा? होगा ही नहीं।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 2, पृष्ठ 37

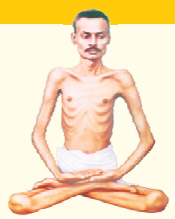

15

श्रीमद् ऐसा बोलते थे कि — **अमारो कोट, अमारी टोपी, अमारूं कर** इत्यादि। लोग यह समझ नहीं सकते। उन्हें ऐसा लगता था कि यह क्या बोलते हैं ? अ—अर्थात् नहीं। अमारो अर्थात् मेरा नहीं, ऐसा भाव उसके पीछे था, परन्तु समझने की किसे पड़ी है ? ऐसा का ऐसा यह आत्मा अनन्त काल से पर को अपना मानकर, अपने स्वरूप को भूलकर भटकता है। श्रीमद् कहते हैं कि **तेरे दोष से तुझे भटकना हुआ है। तेरा दोष इतना कि पर को अपना मानकर भूला।** यह संक्षिप्त भाषा है। कर्म ने तुझे भुलाया नहीं है। कर्मों ने तुझे भटकाया नहीं है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 2, पृष्ठ 107-108

16

श्रीमद् राजचन्द्र ने **सर्व गुणांश, वह सम्यक्त्व**—ऐसा कहा है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 2, पृष्ठ 141

सर्वगुणांश, वह सम्यक्त्व—ऐसा श्रीमद् ने कहा है न ? तो सर्वगुणांश अर्थात् क्या ? अर्थात् कि जो अनन्त शक्तियाँ हैं, उनकी आंशिक व्यक्तता सम्यग्दर्शन होने पर हो जाती है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 7, पृष्ठ 512

17

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि —

अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान;
सेये नहीं गुरु सन्त को, छोड़ा नहीं अभिमान।

आत्मा ज्ञानरस—चैतन्यरस से परिपूर्ण भरपूर तत्त्व है। वह सत् है और ज्ञान-आनन्द उसका सत्त्व है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव या हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-वासना आदि अशुभभाव जो होते हैं, वह विकार है। वह आत्मा का सत्त्व नहीं है। आत्मा और राग भिन्न-भिन्न सत्त्व हैं। बल्कि राग तो बेड़ी समान है। अशुभराग लोहे

की बेड़ी है तो शुभराग सोने की; परन्तु है तो दोनों बेड़ी। शुभराग भी बेड़ी है, भला नहीं है। प्रभु! तेरी प्रभुता को तो एक बार जान। जानना-देखना और आनन्द, वह तेरी प्रभुता है। वह तेरे सत् का सत्त्व है। आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु है। जो वस्तु है, वह उत्पन्न नहीं होती तथा उसका नाश भी नहीं होता, तथापि अज्ञानी अनादि से क्या कर रहा है? प्रतिसमय नये-नये होते पुण्य-पाप के भाव को अपना मानकर सो रहा है। उसे श्रीगुरु कहते हैं कि प्रभु! तेरी भूल होती है। जो चीज़ क्षणिक है और जो चीज़ तुझमें नहीं है, उसे अपनी मानकर सो रहा है, यह बड़ी भूल है।

श्रीमद् राजचन्द्र एक बार कहते थे कि **आत्मा के गुणों का जैसे पार नहीं है, वैसे उसके अपलक्षणों का भी पार नहीं है।** अपनी जाति को न जानना और राग तथा पुण्य-पाप को अपना मानना, यह अपलक्षण है। ज्ञान निजलक्षण है। उसके बदले राग को अपना स्वरूप मानना, वह अपलक्षण है।

भाई! मार्ग तो ऐसा है, बापू! भले तुझे न जँचे, परन्तु तेरी चीज़ ऐसी है, नाथ! कितने ही कहते हैं कि संस्कार सुधारो। परन्तु यह तो कोयले को सुधारने जैसा है। कोयले को सुधारने से कालिमा निकलेगी परन्तु यदि सफेदी चाहिए हो तो उसे जलाना पड़ेगा। उसी प्रकार यदि सुधार करना हो तो पुण्य-पाप के भाव मेरे नहीं हैं, ऐसा जानकर जला डाल। नहीं तो सुधार नहीं होगा। भगवान! मोक्ष का मार्ग कोई अलौकिक चीज़ है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 2, पृष्ठ 177

18

प्रश्न - श्रीमद् ने कहा है न कि **लोपे सब व्यवहार को साधनरहित होय।**

उत्तर - श्रीमद् ने तो वहाँ जो निश्चयाभासी है, उसकी बात की है। जो कोई जीव निश्चयनय के अभिप्राय को यथार्थ नहीं जानता और सद्व्यवहार कहने से आत्मव्यवहार को लोप करता है अर्थात् निश्चयरत्नत्रय प्रगट नहीं करता, वह साधनरहित होता हुआ निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है।

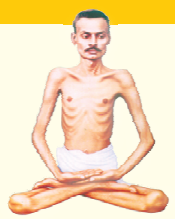

श्रीमद् ने कही हुई पूरी पंक्तियाँ इस प्रकार हैं— (आत्मसिद्धि में)

अथवा निश्चयनयग्रहे, मात्र शब्द के माय,
लोपे सब व्यवहार को साधनरहित होय।

'साधनरहित होय' ऐसा कहा, वहाँ कौन सा साधन ? यह शुभभाव जो अजीव भाव है, वह साधन ? वह तो साधन है ही नहीं। अन्तरंग साधन निज शुद्धात्मा है और उसके लक्ष्य से प्रगट होनेवाला जो निश्चयरत्नत्रय, वह बाह्य साधन है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 3, पृष्ठ 22

19

श्रीमद् ने कहा है कि **देह की चिन्ता की अपेक्षा अनन्तगुणी चिन्ता आत्मा की रखना, क्योंकि इस एक भव में ही अनन्त भव मिटाना है।** यह भव, अनन्त भव मिटाने के लिये है। अनन्त भव को एक भव में मिटाने के लिये यह कोई अलौकिक असाधारण काम है, प्रभु ! यदि यह काम नहीं किया तो सिर पर अनन्त भव पड़े हैं। आँधी का तिनका कहाँ जाकर पड़ेगा, इसका कोई सुमेल नहीं है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव देह छोड़कर कहाँ जायेगा, इसका कोई सुमेल नहीं है। अरे ! कहीं नरक, निगोद तिर्यंच में चला जाएगा ! तथा जिसकी त्रस की स्थिति पूरी होने को आयी हो, उसने यदि यह कार्य (सम्यग्दर्शनादि) न किया तो वह भी निगोद में चला जाएगा। त्रस अवस्था की उत्कृष्ट स्थिति दो हजार सागर से किंचित् अधिक है। क्या कहा ? यह लट, चींटी, भँवरा, पशु, नारकी, मनुष्य, देव इत्यादि में रहने की उत्कृष्ट स्थिति दो हजार सागर जितनी है। वह स्थिति पूरी होने पर नियम से मिथ्यादृष्टि जीव निगोद में-एकेन्द्रिय में जाता है। कदाचित् पंचेन्द्रिय में रहे तो एक हजार सागर रहे और समग्र रूप से त्रस में रहने का अधिकतम दो हजार सागर जितना काल है। यदि इस काल में सम्यग्दर्शनादि प्रगट करे तो अनन्त सुखमय सिद्धपद पाता है और यदि न करे तो महादु:खमय निगोद अवस्था को प्राप्त होता है। वहाँ अनन्त काल दु:ख भोगता है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 3, पृष्ठ 27

20

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है कि—

सर्व जीव है सिद्धसम जो समझे होय। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 3, पृष्ठ 32

21

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि —

जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ;
भवस्थिति आदि न मिले छेदो नहीं आत्मार्थ।

परमानन्द का नाथ परमपदार्थ भगवान आत्मा की उपलब्धि की भावना हो तो सत्य पुरुषार्थ अर्थात् स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ कर। भवस्थिति होगी, वैसा होगा (काललब्धि होगी, वैसा होगा), ऐसी मिथ्या अटक (आग्रह) छोड़ दे। काललब्धि होगी, तब होगा—दुराग्रह आत्मा के हित को छेदनेवाला है। इसलिए भवस्थिति आदि के बहाने छोड़कर तू पुरुषार्थ कर। भाई! तुझे 'काललब्धि होगी, तब होगा' इस बात की धारणा—आग्रह रखना है या उसका ज्ञान करना है? उसका यथार्थ ज्ञान करना हो तो तू ज्ञायक के सन्मुख होकर पुरुषार्थ कर। ज्ञायक ज्ञान में आने पर तुझे पाँचों समवाय का वास्तविक ज्ञान होगा। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 3, पृष्ठ 33

22

प्रश्न - श्रीमद् में आता है न कि **निश्चय रखकर लक्ष्य में, साधन करना सोय।**

उत्तर - साधन अर्थात्? राग की मन्दता, वह साधन? राग की मन्दता साधन है ही नहीं। वे रागादि के साधन तो आकुलता लक्षण दु:ख में समावेश पाते हैं, ऐसा यहाँ कहा है। श्रीमद् ने तो निश्चय के लक्ष्य से साधन की बात कही है। निश्चय साधन करने की बात कही है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 3, पृष्ठ 41

23

श्रीमद् ने कहा है कि — **वस्तु को वस्तुरूप से रखना, फेरफार करना नहीं।**

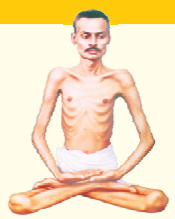

भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी निराकुल सुखस्वरूप है। उसे उसमें रखना। राग में आत्मा आ गया, ऐसा मानना नहीं।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 3, पृष्ठ 42

24

प्रश्न - आप तो (स्वरूप को) समझना... समझना... समझना, बस इतना ही कहा करते हो (दूसरा कुछ करने का तो कहते नहीं)।

उत्तर - भाई! स्वरूप की समझ बिना ही अनन्त काल से जीव संसार से परिभ्रमण करता है। श्रीमद् ने भी यही कहा है न कि —

सर्व जीव है सिद्धसम, जो समझे वे होय।
सद्गुरु आज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण माय॥

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 3, पृष्ठ 104-105

25

भाई! जिस अपेक्षा से जहाँ जो कहा हो, उस अपेक्षा से वहाँ वह समझना चाहिए। श्रीमद् ने भी कहा है कि—

जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ समझना वही,
वहाँ-वहाँ वह-वह आचरे, आत्मार्थीजन सही।

भाई! जो अपेक्षा हो, उस अपेक्षा से ज्ञान करने के बदले दूसरी अपेक्षा खोलने-खोजने जाएगा तो सत्य नहीं मिलेगा। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 3, पृष्ठ 148

26

आहाहा! भगवान तीन लोक के नाथ जिनेन्द्र देव इन्द्रों और गणधरों तथा करोड़ों देवों और राजेन्द्रों की सभा में जो बात करते थे, वह यह बात है। भाई! सुन तो सही कि यह क्या चीज़ है! इसे सुने बिना सच्ची समझ कहाँ से आयेगी? तेरा लक्ष्य वहाँ कैसे

जाएगा? श्रीमद् ने कहा है कि 'लक्ष्य थवाने तेहनो, कह्या शास्त्र सुखदाय।'

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 3, पृष्ठ 183

27

भाई! समय बदलने पर वस्तु का स्वरूप कहीं बदलता नहीं। वीतराग का पन्थ तो सदा एक ही है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है न कि —

एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 3, पृष्ठ 188

श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्मसिद्धि में कहा है कि **एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ** परमार्थ का पन्थ एक ही होता है। अपनी शुद्ध चैतन्यस्वभावमय वस्तु, उसका अवलम्बन-आश्रय लेने से जो दशा प्रगट होती है, वह एक ही मोक्ष का मार्ग है। दो मोक्षमार्ग है ही नहीं। दो का निरूपण होता है, परन्तु उसमें एक तो यथार्थ का निरूपण है और दूसरा आरोपित कथन है। दो मोक्षमार्ग मानना, यह तो भ्रम है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 6, पृष्ठ 199

28

भाई! वीतराग सर्वज्ञ का मार्ग बहुत सूक्ष्म और हितकारी है। श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है कि—

सर्वज्ञ का धर्म सुसर्ण जानी, आराध्य आराध्य प्रभाव आणी।
अनाथ एकान्त सनाथ होगा, इसके बिना कहीं न बाह्य स्हासे॥

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 3, पृष्ठ 251

29

क्षयोपशम का अंश है, वह वस्तु नहीं है। श्रीमद्जी ने भी कहा है कि —

कोई क्रिया जड़ हो रहे, शुष्क ज्ञान में कोई।
माने मारग मोक्ष का करुणा उपजे जोई॥

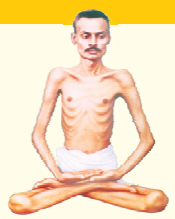

एक को क्रियाजड़ कहा और दूसरे को शुष्कज्ञानी। दोनों का निषेध करके कहते हैं कि उनकी दशा देखकर हमें करुणा हो जाती है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 4, पृष्ठ 50

30

आहाहा! भगवान आत्मा अपने आप अपने से ही रक्षित है। उसे रखना पड़े, ऐसा कहाँ है? वह तो रक्षित ही है। श्रीमद् में आता है कि —

स्वद्रव्य अन्य द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखो

स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्रता से होओ।

स्वद्रव्य के व्यापक शीघ्रता से होओ।

स्वद्रव्य के धारक शीघ्रता से होओ।

स्वद्रव्य के रमक शीघ्रता से होओ।

स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्रता से होओ।

स्वद्रव्य की रक्षकता पर लक्ष्य रखो।

परद्रव्य की धारकता शीघ्रता से तजो।

परद्रव्य की रमणता शीघ्रता से तजो।

परद्रव्य की रमणता शीघ्रता से तजो।

परभाव से विरक्त हो।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 4, पृष्ठ 81-82

श्रीमद् ने कहा है न कि —

स्वद्रव्य की रक्षकता पर लक्ष्य रखो।

भाई! तेरा जो शुद्ध एक ज्ञायकभाव है, उसकी रक्षा करने में लक्ष्य दे क्योंकि पर की रक्षा करने जाएगा तो तुझे राग ही होगा और वह राग मेरा है अथवा मेरा कर्तव्य है,

ऐसा यदि मानेगा तो तू मिथ्यादृष्टि हो जाएगा अर्थात् तुझे जैन की श्रद्धा नहीं रहेगी। ऐसा भगवान का मार्ग है !

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 7, पृष्ठ 247

31

श्रीमद् ने कहा है न कि—

सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख में।

भेदज्ञान के फल में जीव सादि-अनन्त काल अनन्त सुख—समाधिदशा में रहेगा।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 4, पृष्ठ 241

32

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि —

तेरा संसार तेरे अपराध से है; तेरा अपराध इतना कि अपने को भूलकर पर को तू अपना मानता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी सम्यग्दृष्टि अनुभवी पुरुष थे। अल्प काल में मोक्ष जानेवाले हैं। उनकी क्षयोपशम शक्ति अजब थी। उन्होंने संक्षेप में कहा है कि— जीव अपने अपराध से संसार में भटकता है, कर्म के कारण से भटकता है—ऐसा नहीं है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 4, पृष्ठ 268

33

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है कि—

भवस्थिति आदि नाम ले, छेदों नहीं आत्मार्थ।

मात्र काललब्धि... काललब्धि—ऐसी धारणा की बात करे, उसे काललब्धि का सच्चा ज्ञान नहीं है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 5, पृष्ठ 74

34

लोगों को ऐसी सत्य बात सुनने को मिली नहीं, इसलिए नयी लगती है, परन्तु यह नयी बात नहीं है। यह तो केवलियों ने कही हुई पुरानी बात है। ***श्रीमद् राजचन्द्र हो गये***

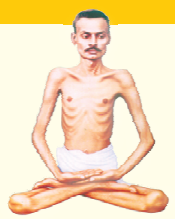

हैं। उन्होंने पचास वर्ष पहले यह बात की है, परन्तु स्वयं गृहस्थाश्रमी थे, इसलिए बात विशेष बाहर नहीं आ पायी।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 5, पृष्ठ 154

35

भगवान! तेरा तो चैतन्य देश है। उसमें ज्ञान आदि अनन्त गुण से भरपूर कीमती माल है। श्रीमद् ने कहा है कि—

हम परदेशी पंखी साधु इस देश के नाहीं रे

आहाहा! ज्ञानी कहते हैं कि यह हिन्दुस्तान और सौराष्ट्र, वह हमारा देश नहीं। हमारा देश तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। ऐसे अपने देश को पहिचानकर उसमें ही स्थिर होकर बसना-रहना, वह सम्यग्दर्शन और धर्म है, वह मोक्षमार्ग और मोक्षस्वरूप है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 5, पृष्ठ 168

36

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि — **हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों! आपके वचन आत्मस्वरूप के अनुसन्धान में हेतुभूत हुए हैं। इसलिए आपको भक्तिभाव से नमस्कार हो।** वे यह वचन हैं।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 5, पृष्ठ 260

37

श्रीमद् ने कहा है न कि—

बहु पुण्य पुंज प्रसंग से शुभ देह मानव का मिला
तो भी अरे भवचक्र का फेरा न एक कभी टला॥

महापुण्य के कारण ऐसा यह मनुष्य भव मिला तो भी भवचक्र का एक भी फेरा मिटा नहीं। बहुत गम्भीर बात है, प्रभु! निगोद के जीव को त्रसपना मिलना महादुर्लभ है। ऐसे स्थान में से भी निकलकर तू मनुष्यपर्याय में आया, संज्ञी पंचेन्द्रिय हुआ, तीन लोक के नाथ वीतराग सर्वज्ञदेव की वाणी तुझे कान में पड़ी। अब यह बाहर का सम्बन्ध

तोड़कर, समस्त विकल्पों को मिटाकर विज्ञानघनस्वभावी आत्मा का अनुभव प्रगट कर। इससे चार गति के अति दु:खमय भवभ्रमण का अन्त आयेगा।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 5, पृष्ठ 289

38

श्रीमद् ने नहीं लिखा ? कि —

दर्शनमोह व्यतीत हो उपजा बोध जो

वहाँ दर्शनमोह अर्थात् नयपक्ष के विकल्प जाल के एकत्व का व्यय होकर ज्ञान उत्पन्न होने की बात है और वही सम्यग्दर्शन है, धर्म है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 5, पृष्ठ 294

39

श्रीमद् ने कहा है न कि—

सर्व जीव है सिद्धसम, जो समझे वे होय

***

दूसरा कितना कहें, कर विचार तो पाम।

'कर विचार तो पाम', ऐसा कहा है। विचार का अर्थ ज्ञान होता है अर्थात् कि ज्ञान करे तो प्राप्त करेगा। राग करे तो प्राप्त करेगा, ऐसा वहाँ नहीं कहा। आत्मसिद्धि में बहुत ऊँची तत्त्व की बात है। सम्प्रदायवालों को बैठना कठिन पड़ता है, क्योंकि सम्प्रदाय में जन्मे, वहाँ सत्य मानकर अटक जाता है। परन्तु भाई ! तू सत्य को न माने तो दु:खी होगा। विपरीत मान्यता द्वारा जीव वर्तमान में दु:खी है और भविष्य में भी दु:खी होगा। यह किसी के अनादर की—तिरस्कार की बात नहीं है; मात्र करुणा का भाव है। श्रीमद् ने कहा है न कि—

कोई क्रिया जड़ हो रहे, शुष्क ज्ञान में कोई।
माने मारग मोक्ष का करुणा उपजे जोई॥

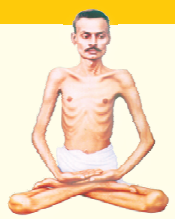

ज्ञानियों को अज्ञानरूप से वर्तते जीवों को देखकर करुणा आती है, तिरस्कार नहीं। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 5, पृष्ठ 303-304

40

श्रीमद् में आता है न कि —

जो पद श्री सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जब।

जीव वचनगोचर नहीं; अनुभवगोचर है, यह तो सत्य ही है परन्तु ऐसा जो विकल्प उठता है, उस विकल्पगोचर भी जीव नहीं है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 5, पृष्ठ 314

41

श्रीमद् ने एक बार कहा कि हमारा नाद कौन सुनेगा ? कि— **एक तिनके के दो टुकड़े करने की सामर्थ्य आत्मा में नहीं है।** आशय यह है कि जड़ की पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है। तिनके के टुकड़े उसके स्वकाल में जो होनेवाले हों, वे उसके कारण से होते हैं, अंगुली से नहीं, चाकू से नहीं और आत्मा से नहीं। यह सब तो निमित्त है। निमित्त है, इस बात का यहाँ निषेध नहीं है परन्तु निमित्त से उपादान का कार्य होता है, इस बात का यहाँ निषेध किया जाता है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 5, पृष्ठ 340

42

श्रीमद् राजचन्द्र ने आता है कि **दिगम्बर आचार्यों ने आत्मा का मोक्ष होता है, ऐसा नहीं माना है परन्तु मोक्ष ज्ञात होता है।** अर्थात् समझ में आता है कि आत्मा मोक्षस्वरूप ही है। जबकि राग से मुक्त होकर मुक्तस्वरूप की प्रतीति की, वहाँ उस प्रतीति में ज्ञात हुआ कि यह (आत्मा) तो मोक्षस्वरूप ही है। मोक्ष होता है, यह तो पर्याय की अपेक्षा से बात है। निश्चय से वस्तु में (आत्मद्रव्य में) बन्ध-मोक्ष है ही नहीं। पर्याय में है। वस्तु तो सदा मुक्त ही है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 6, पृष्ठ 28

43

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि — **तू तेरे अपराध से भटका है। तेरा अपराध यह है कि पर को अपना मानना और अपने को भूल जाना।** वहाँ कहीं कर्म की बात नहीं ली है।

प्रश्न – कौन करता है यह अपराध ?

उत्तर – स्वयं ही करता है। इस अपराध का षट्कारकरूप परिणमन अपना अपने कारण से है। उसमें कर्म की अपेक्षा नहीं है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 6, पृष्ठ 44

44

श्रीमद् को किसी ने एक बार पूछा था कि श्रीकृष्ण अभी कहाँ है ? तो श्रीमद् ने कहा—**वे आत्मा के स्वभाव में हैं।** वह ऐसा मानो कि किसी गति में है, ऐसा कहेंगे, परन्तु भाई ! समकिती पुरुष जहाँ हो, वहाँ स्वभाव में ही है, किसी गति में है—ऐसा परमार्थ से है ही नहीं। वे तो आनन्द और ज्ञान के—स्वरूप के परिणमन में हैं, जो विकल्प आता है, उसमें वे नहीं हैं। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 6, पृष्ठ 90

45

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि — चौबीस घण्टे में बेचारे को मुश्किल से एकाध घण्टा मिले और सुनने जाए, वहाँ अरे ! कुगुरु उसका एक घण्टा लूट लेता है ! रे, क्या हो ? यह जिन्दगी ऐसी की ऐसी चली जाएगी, हों ! यह पैसा-बैसा कोई शरण नहीं होगा, प्रभु ! कदाचित् उसमें से थोड़ा पैसा धर्म के नाम से खर्च करे, तो भी उससे धर्म नहीं होगा, मात्र धर्म के नाम से तू ठगाया जाएगा। क्योंकि उसे जो तू धर्म मानता है, वह (मान्यता) मिथ्यात्व है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 6, पृष्ठ 127

46

भाई ! तुझे पुण्य परिणाम मेरे हैं, ऐसी मान्यतारूप मिथ्यात्व का महारोग हुआ है। श्रीमद् ने कहा है न कि—

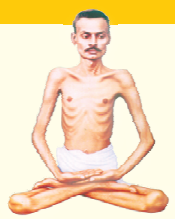

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान,
गुरु आज्ञासम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 6, पृष्ठ 372

47

श्रीमद् राजचन्द्रजी ज्ञानी हो गये हैं। वे एक भव में मोक्ष जाएँगे। उन्होंने कहा है कि —

देह एक धारकर जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे।

श्रीमद् को जवाहरात का बड़ा धन्धा था परन्तु वह तो सब उन्हें तन-जड़ की क्रिया थी, अन्दर से (अभिप्राय में) तो वे राग से भिन्न पड़ गये थे। अहो! भेदज्ञानी जीवों का अन्तरंग कोई पारलौकिक होता है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 6, पृष्ठ 402

48

श्रीमद् (राजचन्द्र) गृहस्थाश्रम में होने पर भी ज्ञानी थे। बाहर में लाखों रुपयों का जवाहरात का धन्धा था, परन्तु अन्दर में वे ज्ञान में उसके भिन्न जाननेवाले मात्र थे। जैसे नारियल में गोला पृथक् पड़ जाता है, वैसे राग से भिन्न पड़कर आत्मज्ञान—भेदज्ञान करने से अन्दर चैतन्य गोला पृथक् पड़ गया था। भगवान आत्मा के अखण्ड एकरूप चैतन्यरस को बताते हुए श्रीमद् ने कहा है कि

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम
दूसरा कितना कहें, कर विचार तो पाम।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 6, पृष्ठ 436

49

श्रीमद् राजचन्द्र ने संक्षिप्त में कहा है कि **तेरे दोष से तुझे बन्धन है, यह सन्त की पहली शिक्षा है।** तेरा दोष इतना ही है कि अन्य को अपना मानना, स्वयं अपने को भूल जाना। अपने स्वरूप को भूलकर पर को अपना मानना। यह महा अपराध है और यह

अपना अपराध है, किसी कर्म के कारण है, ऐसा नहीं है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 7, पृष्ठ 55

50

भगवान! तू कौन है? तू कैसा और कितना है, इसका तुझे विचार-विवेक नहीं है। 'अमूल्य तत्त्वविचार' में श्रीमद् ने कहा है न कि —

मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दुःखमय कौन हैं? स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिए।
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिए॥

देखा? स्वयं कौन है? इसका शान्तभाव से विवेकपूर्वक विचार करे, उसे आत्मज्ञान और आत्मानुभव होता है, ऐसा कहते हैं। सोलह वर्ष की उम्र में यह श्रीमद् ने लिखा है। परन्तु यह तो देह की उम्र है न? उम्र के साथ आत्मा को क्या सम्बन्ध है? आत्मा तो अन्दर अनादि-अनन्त भगवान है। वह कहाँ जन्मता-मरता है? जन्म-मरण तो लोग देह के संयोग-वियोग को कहेंगे; वह तो देह की-मिट्टी की स्थिति है, जबकि आत्मा तो अकेली चैतन्यसत्तास्वरूप त्रिकाली भगवान है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 7, पृष्ठ 55

51

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है न कि—

सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते सुख जाता दूर है
तू क्यों भयंकर भाव मरण प्रवाह में चकचूर है?

अमूल्य तत्त्वविचार

अहा! राग से और परचीज़ से मैं बड़ा / अधिक हूँ, ऐसा माननेवाले क्षण-क्षण में जीव का भावमरण करते हैं।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 7, पृष्ठ 192

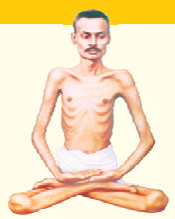

श्रीमद् में आता है न कि—

तू क्यों भयंकर भावमरण प्रवाह में चकचूर है ?

बापू ! देह से और राग से जीवन माने, उसे तो सच्चा जीवन जीना ही नहीं आता, उसे तो निरन्तर भावमरण ही हुआ करता है। समझ में आया ?

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 11, पृष्ठ 11

52

अहा ! ज्ञानी को रागभाव होता है, परन्तु उसकी उसे इच्छा नहीं है, इसलिए ज्ञानी को परिग्रह नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्र में आता है न कि—

क्या इच्छत खौवत सबै है इच्छा दुखमूल

अब जहाँ ऐसा है, वहाँ ज्ञानी को किसकी इच्छा हो ? आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा की भावना हो या दुःखरूप विकार की—शुभाशुभ विकल्प की भावना हो ? शुभ-अशुभ विकल्प की भावना तो बन्धन है और वह तो अज्ञानी को होती है। ज्ञानी को तो विकार होने पर भी विकार की भावना नहीं है, इच्छा नहीं है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 7, पृष्ठ 269

53

प्रश्न : तो श्रीमद् राजचन्द्र में आता है कि **वेदनीय कर्म का भोग भोगना बाकी है ?**

समाधान : भाई ! वह तो अभी राग बाकी है, ऐसा वहाँ बताना है। अभी थोड़ा राग है न ? इस भव में मोक्ष होगा, ऐसा नहीं दिखता; पर्याय में अभी राग है और वह छूटता ज्ञात नहीं होता तो ज्ञानी जानते हैं कि अभी एकाध भव करना पड़ेगा; और तब राग छूटकर केवलज्ञान प्राप्त करूँगा। ज्ञानी की दृष्टि में—दृष्टि के स्वभाव में तो मैं राग का कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं, ऐसा है। परन्तु ज्ञान में, पर्याय में जो राग का परिणमन है, वह मेरा है और मैं उसका कर्ता-भोक्ता हूँ—ऐसा ज्ञानी जानते हैं; मात्र जानते ही हैं,

हों! (कर्तव्य है और करते हैं, ऐसा नहीं है)। ऐसा अनेकान्तमार्ग है। (उसे स्याद्वाद द्वारा समझना चाहिए)। यहाँ कहते हैं कि कर्म मुझे आच्छादित करता है, ऐसा है ही नहीं—ऐसा ज्ञानी मानते हैं। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 7, पृष्ठ 275

54

प्रश्न : श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि **मुझे एक भव में मोक्ष जाना है,** तो ऐसा पंचम काल के गृहस्थाश्रमी क्या जान सकते हैं ?

समाधान : नहीं जान सके, यह प्रश्न ही नहीं है। यहाँ तो भगवान आत्मा सब जाने, ऐसी बात है। मतिज्ञान द्वारा उपयोग लागू पड़ गया तो इतना सब जाने कि केवलज्ञान कब होगा, यह भी जान लेते हैं। इसलिए श्रीमद् ने कहा है, वह यथार्थ है। ऐसी बात है; लो, घड़ी में डंका बजता है (अर्थात् कि घड़ी भी बात की साक्षी देती है।)

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 7, पृष्ठ 429

55

देखो, एक भाई पूछते थे कि श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि **मैं (श्रीमद्) एक भव में मोक्ष जानेवाला हूँ।** तो क्या ऐसा सब वे जान सकते हैं ?

तब कहा कि, बापू! (न जान सके)-ऐसा रहने दे, भाई! श्रुतज्ञान सर्व को जानता है, इसलिए तुम (वे कैसे जान सकते हैं) ?—ऐसा रहने दो। बापू! श्रीमद् ने कहा है, वह यथार्थ कहा है—

अशेष कर्म का भोग है, भोगना अवशेष रे
इससे देह एक धारकर, जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे...

यह श्रीमद् ने जो कहा है, वह यथार्थ कहा है।

बापू! आत्मा सम्यग्ज्ञान में क्या नहीं जानता ? उसकी महिमा की तुझे खबर नहीं है। आहा! जिसके लक्ष्य में ज्ञान गया, वह ज्ञान सबका पता ले लेता है, थाह ले लेता है। आहा! ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है या नहीं ? तो सम्यग्दर्शन में जहाँ आत्मा का

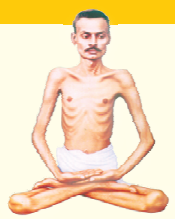

भान हुआ, वहाँ प्रगट हुए श्रुतज्ञान का ऐसा माहात्म्य है कि सब ज्ञात होता है। आहा! श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में परोक्ष-प्रत्यक्ष का अन्तर किया है। परन्तु सर्व में (सर्व को जानने में अन्तर नहीं किया)।

आहा! स्वरूप से ही स्व-पर को जानने का श्रुतज्ञान का सामर्थ्य है। आहा! श्रुतज्ञान कहीं रंक (बलहीन) ज्ञान नहीं है। वह तो बलवन्त ज्ञान है। बलवन्त ऐसे भगवान आत्मा का ज्ञान है और इसलिए वह ज्ञान भी बलवन्त है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 7, पृष्ठ 508

56

अहा! धर्मी को सम्पूर्ण जगत तुच्छ भासित होता है। श्रीमद् ने कहा है न कि —**जगत इष्ट नहीं आत्म से।** जिसे आत्मा इष्ट हुआ, उसे जगत एकदम फीका लगता है। समझ में आया?

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 7, पृष्ठ 526

57

श्रीमद् के अपूर्व अवसर में आता है न कि —

एकाकी कब विचरूँगा श्मशान में,
अरु पर्वत में बाघ-सिंह संयोग जो,
अडोल आसन अरु मन में नहीं क्षोभ हो,
परम मित्र का मानो पाया योग जो,
अपूर्व अवसर...

आहा! बाघ-सिंह खाने आवे तो मानो मित्र का योग हुआ—ऐसा समझे; तात्पर्य यह है कि ज्ञानी को उस काल में चित्त में द्वेष या क्षोभ उत्पन्न नहीं होता। क्यों?—क्योंकि शरीर मेरा नहीं है, मेरे रखने से रहा नहीं है और वह लेने आया है, वह भले ले जाये, उसमें मुझे क्या है? ऐसी सम्यग्दर्शन में समता होती है। मैं पर का घात करूँ और पर मेरा घात करे, ऐसा अध्यवसाय जिसे नहीं है, उसे असाधारण समता होती है। इसीलिए तो

कहा है कि वह ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है। ऐसी बात है!

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 8, पृष्ठ 53

58

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि—**मिथ्यात्व का लक्षण यह है कि परचीज़ को अपनी मानना और अपनी चीज़ को भूल जाना।** अहा! इसने शास्त्र की जानकारी की, परलक्षी परप्रकाशक ज्ञान किया, परन्तु वह ज्ञान कहाँ अपना था? अहा! परलक्षी ज्ञान कहीं अपना ज्ञान नहीं है, ज्ञान का ज्ञान नहीं है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 8, पृष्ठ 176

59

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का—सर्वज्ञ वीतराग श्री अरिहन्तदेव, निर्ग्रन्थ नग्न दिगम्बर मुनिराज और भगवानश्री जिनेश्वरदेव ने कहे हुए शास्त्रों का विनय और बहुमान बहुत करे, तथापि वह परद्रव्य का जो विनय है, वह शुभभाव है; धर्म नहीं।

परन्तु श्रीमद् में आता है न कि **विनय मोक्ष का द्वार है?**

हाँ, परन्तु वह यह विनय नहीं, भाई! यह तो निर्मलानन्द का नाथ स्वयं एक ज्ञायकस्वभावी स्वस्वरूप से अन्दर सदा विराज रहा है, उसका आदर, उसका सत्कार करे, वह सत्यार्थ विनय है और वह मोक्ष का द्वार है। परन्तु स्व-स्वरूप के आदररहित कोई देव-गुरु-शास्त्र की चाहे जितनी अनन्त भक्ति करे, तो भी उससे मोक्षमार्ग नहीं होता। समझ में आया?

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 8, पृष्ठ 232

60

श्रीमद् राजचन्द्र में एक पद आता है कि—

जिन सो ही है आत्मा,
अन्य सो ही है कर्म,
यही वचन से समझ ले,
जिन प्रवचन का मर्म।

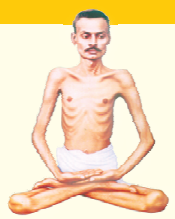

भगवान आत्मा सदा जिनस्वरूप—वीतरागस्वरूप ही है; और कर्म अर्थात् पुण्य-पाप के भाव सब अन्य अर्थात् पर अजीव है। पुण्य-पाप में आत्मा नहीं और आत्मा के स्वभाव में पुण्य-पाप नहीं। अहा! पुण्य-पाप के भाव तो पर के लक्ष्य से होनेवाले नैमित्तिकभाव हैं और वे स्वभाव के लक्ष्य से छोड़नेयोग्य हैं। लो, ऐसा उपदेश है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 8, पृष्ठ 331

61

श्रीमद् ने कहा है न कि—

मोक्ष कहा निज शुद्धता, जो पावे सो पन्थ।
समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्ग्रन्थ।

दूसरे प्रकार से कहें तो भगवान आत्मा में अनादि से पर्याय में विकार का सम्बन्ध है। वह बन्ध और संसार है। अहा! जब उस कर्म-विकार से मुक्त पूर्ण अबन्ध हो जाए, तब पूर्ण ज्ञान और आनन्द की दशा प्रगट होती है और इसका नाम मोक्ष है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 8, पृष्ठ 380-381

62

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य का पुंज प्रभु त्रिकाल एक ज्ञाता-दृष्टास्वभावी वस्तु है। उसका दृष्टि में अपनेरूप स्वीकार करना, वह ज्ञानभाव अबन्ध है परन्तु उसका अनादर करके 'रागादिभाव वह मैं हूँ, मैं उनका कर्ता हूँ'—ऐसा मानना, वह अज्ञानभाव है और उसके द्वारा इसे बन्ध होता है। अहा! अपनी त्रिकाली विद्यमान-अस्तिरूप चीज़ को न मानकर उसे दूसरे प्रकार से मानना, वह उसका अभाव करनेरूप भावहिंसा है। और उसके द्वारा उसे बन्ध होता है। जो चार गति में भटकने का कारण होता है। श्रीमद् में आता है न कि—

अनन्त काल से भटक रहा, बिना भान भगवान।
त्रिये नहीं गुरु-सन्त को छोड़ा नहीं अभिमान॥

बापू ! यह सब अभी नहीं समझे तो कब समझेगा, भाई ! यह देह तो देखते-देखते में छूट जाएगी और स्वरूप के भान बिना यह (जीव) कहीं चला जाएगा। यहाँ बड़ा करोड़पति सेठ हो परन्तु रागादि की ममता में देह छूटकर पशु में अवतार होगा। अरे ! गिलहरी होगा, गधी का शरीर होकर अवतरित होगा ! क्या हो ? बापू ! ऐसे-ऐसे तो इसने अनन्त भव किये हैं। भाई ! क्या तुझे भव का भय नहीं है ? यदि है तो कहते हैं, कि स्वरूप का भान किये बिना अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना, राग की—महाव्रतादि की क्रिया मेरी है, वह मुझे लाभदायी है, ऐसा माननेवाले अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को भव का अन्त नहीं आता, क्योंकि उसकी मान्यता अज्ञानभाव है और उसके द्वारा बन्ध ही होता है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 9, पृष्ठ 41

63

श्रीमद् ने कहा है न कि —

आत्मा द्रव्य से नित्य है पर्याय से पलटाय
बालादि वय तीन का ज्ञान एक को थाय।

पूर्व में बालक अवस्था थी, वर्तमान में यौवनावस्था है और भविष्य में वृद्ध अवस्था होगी। इस प्रकार देह की तीन अवस्था का ज्ञान जो त्रिकाली एक है, उसे होता है। इस त्रिकाली की दृष्टि करने पर सम्यग्दर्शन होता है, भ्रान्ति मिटती है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 9, पृष्ठ 277

64

हाँ, परन्तु श्रीमद् ने तो ऐसा कहा है कि—

उपादान का नाम ले, वे जो तजे निमित्त,
पावे नहीं परमार्थ को रहे भ्रान्ति में स्थित।

भाई ! यह तो उपादान के नाम से एकान्त निश्चयाभास है, उसकी बात है। उपादान का नाम लेकर जो अन्तर एकाग्रता तो करता नहीं और धर्मी को होते हैं, ऐसे

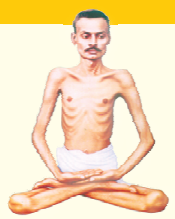

बाह्य साधनों को उत्थापता है, ऐसे स्वच्छन्दी जीव को कहते हैं, परमार्थ प्राप्ति नहीं होती। अब इसमें निमित्त से उपादान में कार्य होता है, ऐसी बात कहाँ है ? यहाँ तो धर्मी को होते हैं, ऐसे बाह्य साधन का जो सर्वथा इनकार करता है, उसकी बात है कि ऐसा स्वच्छन्दी जीव मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं करता।

भाई ! निमित्त एक चीज़ है अवश्य, उसका इनकार करे तो भी अज्ञान है और निमित्त से उपादान में कार्य होता है, ऐसा माने तो भी भ्रान्ति है, अज्ञान है। समझ में आया ?

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 9, पृष्ठ 334

65

आत्मसिद्धि में श्रीमद् ने कहा है न कि—

नय निश्चय एकान्त से इसमें नहीं कहा,
एकान्त से व्यवहार नहीं दोनों साथ रहे।

दोनों साथ रहते हैं। इसका अर्थ क्या ? कि इससे यह है, ऐसा नहीं है। द्रव्यसंग्रह की गाथा 47 में आता है कि निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग—दोनों ध्यान में प्रगट होते हैं। अब उसमें व्यवहार पहला और निश्चय बाद में, ऐसा है ही कहाँ ? स्वरूप की दृष्टि और रमणता होने पर निश्चयरत्नत्रय प्रगट होता है और तब उसी काल में जो राग बाकी रहा है, उसे आरोप करके व्यवहार से व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार दोनों साथ में विद्यमान हैं। व्यवहार का राग जो उस काल में है, उसे निमित्त कहा जाता है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 9, पृष्ठ 373

66

धन्धे के कारण, पर के कार्य के कारण अभी तो निवृत्त नहीं होता परन्तु स्वस्वरूप की समझ बिना तू देह छोड़ने के काल में भारी उलझन में आ जायेगा, प्रभु ! अरे ! अज्ञानी जीव राग की एकता के दबाव में और देह की वेदना के दबाव में देह छोड़कर कहीं दुर्गति में—तिर्यंच आदि में चले जाते हैं, जबकि धर्मी जीव को तो देह छूटने के काल में भी यह निराकुलता और शान्ति ही शान्ति होती है।

देखो, श्रीमद् राजचन्द्रजी आत्मज्ञानी थे। तैंतीस वर्ष की छोटी उम्र थी और ख्याल में आ गया कि देह छूटने का अवसर नजदीक है, तो अन्त में बोले—**मनसुख! माँ को खेद नहीं होने देना, मैं मेरे स्वरूप में लीन होता हूँ।** आहाहा!

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 9, पृष्ठ 390

67

सातवें (गुणस्थान में)—अप्रमत्तदशा में जाने पर अस्थिरता का राग छूट जाता है। अहो! ऐसी अलौकिक दशा! वह मुनिदशा! श्रीमद् ऐसी भावना भाते हैं न कि

एकाकी विचरूँगा कब श्मशान में
अरु पर्वत में बाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन अरु मन में नहीं क्षोभ हो
परम मित्र का पाया मानो योग जो
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा?

अहा! यह शरीर मेरा नहीं, मुझे चलता नहीं। जंगल में बाघ, सिंह आ चढ़े और शरीर ले जाए तो भले ले जाए। मुझे चाहिए नहीं और ले जाते हैं, वह तो मित्र का काम करते हैं। हम तो अन्दर स्वरूप का निश्चलरूप से ध्यान धरकर मोक्ष साधेंगे। अहा! ऐसी वीतरागी समता मुनिवर को घुँटती है, तब अन्दर स्थिर होकर श्रेणी चढ़ते हैं और तब इस (ज्ञाता-दृष्टा का) साक्षात् अनुभव होता है, उसे अकेले अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है। वहाँ अबुद्धिपूर्वक का सूक्ष्म राग होता है, उसे यहाँ नहीं गिना है। आहाहा! शान्त... शान्त... शान्त आनन्द के धाम में रमते-रमते वह मोक्षपद को साध लेता है। ऐसी अलौकिक बात है!

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 10, पृष्ठ 131-132

68

श्रीमद्जी ने कहा है —

काया की विसारी माया स्वरूप में समाये ऐसे
निर्ग्रन्थ का पन्थ भव अन्त का उपाय है।

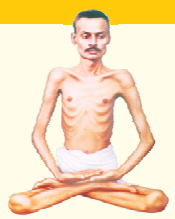

आहाहा! बाह्यलिंग का पक्ष छोड़कर जो स्वरूप में समा गये, स्वरूप के आश्रय में डूब गये, वे निर्ग्रन्थ (मुनिवर) हैं, और ऐसे निर्ग्रन्थ का पन्थ ही मोक्षपन्थ है, वही भव के अन्त का उपाय है। बाह्यलिंग तो वही होता है परन्तु वह मोक्ष का पन्थ नहीं है। तब श्रीमद् का आधार देकर कोई फिर कहते हैं—

जाति भेष का भेद नहीं, कहा मार्ग जो होय,
साधे वह मुक्ति लहे, इसमें भेद न कोय।

वे इसका ऐसा अर्थ करते हैं कि चाहे जो जाति और वेष होने पर भी मोक्ष हो जाता है, परन्तु यह बराबर नहीं है। वेष—बाह्यलिंग तो नग्नदशा ही और पंच महाव्रतादि होते हैं, परन्तु इसका पक्ष मोक्षमार्ग नहीं है, ऐसी बात है। अन्य वेष तो बाह्यलिंग ही नहीं है। अन्य वेष में मुक्ति हो जाए, ऐसा तीन काल में नहीं है; चाण्डाल जाति, स्त्री जाति और वस्त्रसहित वेष हो और मोक्ष हो जाए, ऐसा कभी भी नहीं होता। यह भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का पुकार है। वस्त्रसहित मुनिपना तीन काल में नहीं हो सकता। निर्मल दर्शन ज्ञान-चारित्र, वह एक ही मोक्षमार्ग है और बाह्यलिंग भी एक ही है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 10, पृष्ठ 244

69

अरे भाई! विचार तो कर, तू कौन है ? श्रीमद् ने मोक्षमाला में कहा है कि

मैं कौन हूँ? आया कहाँ से और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दुःख में कौन है स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिए।
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिए।

आहाहा! भगवान! तू अनादि-अनन्त अमाप-अमाप शक्ति का सागर प्रभु है। आहाहा! अन्दर ज्ञानानन्द का अमाप... अमाप समुद्र प्रभु तू है। इसलिए शान्त चित्त से स्व-पर के विवेकपूर्वक अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा अर्थात् अन्तर्मुख प्रज्ञा की पर्याय द्वारा

अमाप का माप (-ज्ञान) कर ले, प्रभु ! आहाहा ! प्रज्ञा के गुण द्वारा तू अपने को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ऐसा स्थापित कर कि वहाँ से चलित न हो।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 10, पृष्ठ 252

70

जरा गम्भीर होकर विचार कर और एक ज्ञायकस्वरूप ही मैं हूँ, ऐसा निर्णय कर, अन्यथा चौरासी के अवतार में भटकना चालू रहेगा। समझ में आया? ...श्रीमद् ने (आश्चर्य और खेद प्रगट करके) कहा है न कि—

घट-पट आदि जान तू, इससे उसको मान;
जाननहार को माने नहीं कहिये कैसा ज्ञान ?

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 10, पृष्ठ 358

अहा ! जाननहार की अस्ति में—ज्ञानभूमिका में यह सब बाह्य चीज़ें देखकर, 'यह जाननेवाला वह मैं हूँ'—ऐसा न मानकर, 'यह बाह्य चीज़ें, वह मैं हूँ'—ऐसा मानकर, स्वयं शून्य—अभावरूप होता हुआ अज्ञानी अपना नाश करता है। अहो ! मोह की कोई गजब महिमा है। पूरा जगत मोह से मूर्च्छित होकर ठगा रहा है। आचार्यदेव ने पूरे जगत का चित्राम खड़ा किया है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 10, पृष्ठ 418

71

श्रीमद् ने एक पत्र में लिखा है कि—**चैतन्य हो या परमाणु हो, किसी भी पदार्थ को निर्णय करना हो तो वह वस्तु—द्रव्य, उसकी चौड़ाई—क्षेत्र, उसका भाव—गुण तथा उसकी वर्तमान दशा क्या है ?—ऐसे चार प्रकार से निर्णय किया जा सकता है, इसके बिना पदार्थ सिद्ध नहीं होता।**

उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि अपना द्रव्य—वस्तु जो आत्मा है वह; उसके भाव-गुण, उसका शरीर प्रमाण (तथापि शरीर से भिन्न) असंख्य प्रदेशी क्षेत्र; और उसकी अवस्था—काल—ऐसे चार खूंट से वस्तु सिद्ध होती है। ऐसा न हो तो उसकी दशा में

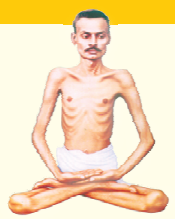

परिणमना, उसके क्षेत्र में कायम रहना, गुणों का त्रिकाल टिकना और द्रव्यरूप से कायम रहना सिद्ध नहीं होगा।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 10, पृष्ठ 364

72

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने वेदान्त के एक अभ्यासी को पत्र लिखा है कि—**अपन पदार्थ की व्याख्या चार प्रकार से कर सकते हैं। किसी भी पदार्थ में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऐसे चार अंश होते हैं। आत्मा में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऐसे चार बोल उतारना चाहिए।** आत्मा द्रव्य से एक है, क्षेत्र से असंख्य प्रदेशी है, काल से त्रिकाली अथवा एक समय की अवस्थारूप और भाव से अनन्त गुणमय है। अन्यमतवाले ऐसे चार भेद नहीं मानते। वे आत्मा को मात्र एक, सर्वव्यापक, शुद्ध चैतन्यमय, अभेद मानते हैं, परन्तु यह तो कथनमात्र है, आत्मा के वास्तविक स्वरूप की उन्हें खबर नहीं है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 11, पृष्ठ 125

73

प्रश्न : श्रीमद्जी ने ऐसा कहा है कि—

क्या प्रभु चरण निकट धरूँ, आत्मा से सब हीन।
वह तो प्रभु ने ही दिया, वह तो चरणाधीन।

समाधान : यह तो व्यवहार से विनय के वचन है, बापू! शिष्य को विनय का भाव आने से व्यवहार से ऐसा कहा है। व्यवहार की ऐसी ही पद्धति है। बाकी भाई! तू कोई वस्तु है या नहीं? है तो उसका कोई भाव—स्वभाव है या नहीं? यदि है तो जो कोई पर्याय समय-समय में आती है, वह भाव में से आती है, वह उस भावरूप है, परभावरूप नहीं। समझ में आया?

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 10, पृष्ठ 398

74

श्रीमद् के एक पत्र में आता है, भाई! कि—**और स्मरण होता है कि जिनके बिना**

एक पल भी मैं नहीं जी सकूँ, ऐसे कितने ही पदार्थ स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी इत्यादि, उन्हें अनन्त बार छोड़ते हुए, उनका वियोग हुआ, अनन्त काल भी हो गया वियोग का... इत्यादि। अर्थात् कि इष्ट के विरहपूर्वक अनन्त काल आत्मा का गया है और संयोग काल में भी वह चीज़ तेरी कहाँ है ? उसके बिना ही तू टिक रहा है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 10, पृष्ठ 422

75

श्रीमद् ने **तीन प्रकार से ईश्वर कहे हैं।** धर्मात्मा को भगवान आत्मा अनन्त चैतन्यस्वभाव के सामर्थ्य से भरपूर होने से स्वयं **स्वभाव ईश्वर** है। अज्ञानी को राग और पुण्य ही अपना सर्वस्व होने से वह **विभावेश्वर** है और परमाणु **जड़ेश्वर** है, क्योंकि वह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से स्वतन्त्र परिणम रहा है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 10, पृष्ठ 445

76

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है न कि—

जो स्वरूप समझे बिना पाया दुःख अनन्त,
समझाया उन पद नमूँ, श्री सद्गुरु भगवन्त।
रे गुणवन्ता ज्ञानी अमृत बरस्या रे पंचम कालमा।

अरे भाई ! तेरा स्वस्वरूप समझे बिना तेरा अनन्त काल अनन्त दुःख में ही व्यतीत हुआ है। राग से भिन्न पड़कर स्वस्वरूप की दृष्टि और अनुभव करने से सुख प्रगट होता है, ऐसा श्री सद्गुरु भगवन्त ने स्वरूप बताया है। अहो ! यह तो इस पंचम काल में अमृत की बरसा बरसी है। भाई ! इसमें तो दुनिया से एकदम अलग बात है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 11, पृष्ठ 15

77

श्रीमद् ने कहा है—**सत् सरल है, सत् सर्वत्र है, परन्तु सत् का मिलना दुर्लभ है।**

हाँ, परन्तु गुरु मिले तो सत् मिले न ?

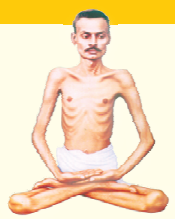

यह तो बापू! गुरु का उपदेश जानकर अन्तर-सन्मुख होकर अन्त:तत्त्व-एक ज्ञायकतत्त्व का अनुभव करे तो गुरु मिले, ऐसा कहा जाये; बाकी गुरु क्या करे? स्वयं स्वस्वरूप में अन्तर्दृष्टि करके भगवान आत्मा के आनन्द का अनुभव करे, वह मुख्य है और वह धर्म है। स्वानुभव—आत्मानुभव धर्म है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 11, पृष्ठ 20

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि **सत् सरल है, सत् सर्वत्र है,** हाँ! परन्तु ज्ञान में उसकी स्वीकृति आवे तब न? ज्ञान की पर्याय अन्तर्मुख होकर त्रिकाली सत् भगवान ज्ञायक के सन्मुख हो, तब उसकी स्वीकृति-प्रतीति होती है। इसका नाम सत् सरल है। बाकी राग की रुचि में रमे, उसे सत् कहाँ है? — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 11, पृष्ठ 169

78

श्रीमद् राजचन्द्र रचित आत्मसिद्धि में **अनुभव, लक्ष्य, प्रतीति**—ऐसे तीन शब्द आते हैं। वहाँ अनुभव, वह चारित्रपर्याय; लक्ष्य, वह ज्ञान की पर्याय और प्रतीति, वह श्रद्धा की पर्याय है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 11, पृष्ठ 56

79

श्रीमद् कहते हैं न? कि—

सादि अनन्त अनन्त समाधि सुख में
अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो... अपूर्व०

अहा! केवलज्ञान नया प्रगट होता है, इसलिए सादि—आदि सहित है और उसका अन्त नहीं है, इसलिए अनन्त है। इस प्रकार केवलज्ञान का काल सादि-अनन्त है। आहाहा! अनन्त कालपर्यन्त सर्वज्ञदेव समाधिसुख में लीन-तल्लीन रहते हैं।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 11, पृष्ठ 65

80

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भगवान की वाणी की महिमा करते हुए कहा है कि—

अनन्त अनन्त भाव भेद से भरेली भली,...
....जिनेश्वर की वाणी जानी उसने जानी है।

अब ॐध्वनि जहाँ ऐसी है, वहाँ उसकी वाच्य वस्तु अनन्त... अनन्त... स्वभाव से भरपूर भगवान आत्मा का क्या कहना ? — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 11, पृष्ठ 95

81

हे भाई ! तेरे साधन में अन्दर चैतन्य के तल में गहरा उतरकर तुझमें ही खोजकर; दूसरा खोज मत। जो साधन को बाहर में खोजते हैं, वे स्थूलबुद्धिवाले बहिर्दृष्टि हैं, उन्हें अन्यत्र कहीं साधन हाथ नहीं आता। श्रीमद् में आया है न कि—

यह साधन बार अनन्त कियो,
तदपि कछु हाथ हजू न पर्यो

जो चैतन्य के तल में गहरा उतरकर खोज करता है, उसे अपने आत्मा में ही अपना साधन भासित होता है। अरे ! स्वयं ही साधनरूप होकर सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावों को प्राप्त करता है। — गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 11, पृष्ठ 194

82

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने एक जगह कहा है कि—**सम्यग्दृष्टि धर्म का पात्र है।** देखो, यह पात्र ! उत्तम वस्तु का दान झेलने का पात्र भी उत्तम होता है। जैसे सिंहनी का दूध सोने के पात्र में ही रहता है, उसी प्रकार उत्तम ऐसे रत्नत्रय को झेलने का पात्र उत्तम ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव ही होता है। अज्ञानी उसका पात्र नहीं है। अहा ! आत्मा में ही ऐसी उत्तम पात्रशक्ति (सम्प्रदानशक्ति) है कि स्वयं परिणमकर अपने अतीन्द्रिय आनन्द को अपने में झेलता है। गुण की अवस्था की योग्यता, वह पात्र और गुण की वह अवस्था ही दाता है। यह सर्वज्ञदेव की वाणी में आयी हुई बात है। जिसने द्रव्यस्वभाव का आश्रय लिया, उसे सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई, वह पर्याय स्वयं से दी जाती है, इसलिए दाता है

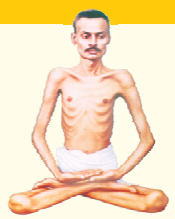

और उसे लेने के योग्य पात्रता भी उसी पर्याय में होने से वह सुपात्र है और उस समय दान भी वह पर्याय स्वयं ही है। ऐसा अन्तर का मार्ग अद्‌भुत है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 11, पृष्ठ 202

83

श्रीमद् के एक पत्र में आता है कि—**जगत को अच्छा दिखाने के लिये और जगत से प्रसन्न होने के लिये इसने प्रयत्न किया है, परन्तु अपना भला कैसे हो, यह प्रयत्न इसने कभी नहीं किया।** लोग भला कहे और प्रशंसा करे तो मैं बड़ा और तो मैं समाज में कुछ अधिक। परन्तु बापू! उसमें क्या है? वह तो सब धूल है। आहाहा! दूसरे से मुझमें अधिकता-विशेषता है, यह मान्यता ही मूढ़पना है। लोग अभिनन्दन का पूंछड़ा दे, तो भी उसमें क्या है? उसमें मग्न होना—फूल जाना, वह तो सच में ही पूँछ अर्थात् ढोर की दशा है।

— गुजराती प्रवचन रत्नाकर भाग 11, पृष्ठ 221

परिशिष्ट

श्रीमद् राजचन्द्र : बहिनश्री की तत्त्वचर्चा के आलोक में

प्रश्न : श्रीमद् राजचन्द्रजी के सम्बन्ध में दो शब्द कहने की कृपा करें।

समाधान : श्रीमद्जी सम्यग्दृष्टि थे। उन्होंने स्वानुभूति प्राप्त की थी। वे बचपन से ही वैरागी थे। उनकी विचारशक्ति तीव्र थी, उनका ज्ञान भी बहुत था। वे गृहस्थाश्रम में रहने पर भी न्यारे थे। उन्हें गृहस्थाश्रम में ही स्वानुभूति प्रगट हुई थी।

प्रश्न : आप उपादान पर अधिक जोर देते हैं, जब हम श्रीमद्जी का पढ़ते हैं, तब ऐसा लगता है कि उन्होंने निमित्त पर विशेष वजन दिया है।

समाधान : ऐसा नहीं होता। सबके कहने का आशय एक ही है। सबका यही कहना है कि तू कर तो (कार्य) हो। कोई निमित्त की ओर से भले बात करते हों, परन्तु करना तो अपने को ही है।

कोई व्यवहार की ओर से बात करते हों, इसलिए वे व्यवहार का करते हैं और दूसरे अध्यात्म का कहते हैं, ऐसा नहीं कहा जाता। सबका आशय एक ही होता है। सब भावलिंगी मुनि मुक्ति के मार्ग में थे, तथापि कोई व्यवहार के शास्त्रों की रचना करें इसलिए वे कुछ दूसरा कहते हैं, ऐसा नहीं है। सबका आशय एक ही होता है।

प्रश्न : 'श्रीमद् राजचन्द्र' में आता है कि पात्रता के लिये विशेष प्रयत्न रखना; तो उस पात्रका स्वरूप क्या ?

समाधान : आत्मा को ग्रहण करने हेतु अपनी विशेष पात्रता होनी चाहिए। अन्य में किसी प्रकार की तन्मयता न हो, आत्मा की महिमा छूटकर बाहर की कोई महिमा न आये, कोई बाह्य वस्तु आश्चर्यजनक न लगे, एक अपना आत्मा ही आश्चर्यकारी एवं

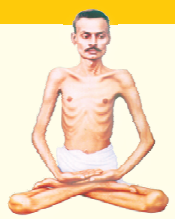

सर्वोत्कृष्ट लगे। आत्मा की अपेक्षा किसी अन्य वस्तु की महिमा बढ़ न जाये, देव-शास्त्र-गुरु और एक आत्मा की अपेक्षा अन्य कुछ भी विशेष भासित न हो, ऐसी पात्रता होनी चाहिए। बाहर के निष्प्रयोजन प्रसंगों में अथवा कषायों के रस में विशेष एकत्व-तन्मयता हो जाये, वह सब आत्मार्थी को—पात्रतावान् को नहीं होता। जिसे आत्मा का प्रयोजन है, उसे पर के साथ का एकत्व मन्द हो जाता है, अनन्तानुबन्धी का समस्त रस मन्द पड़ जाता है।

आत्मार्थी को ऐसी जिज्ञासा बनी रहती है कि तत्त्व का ग्रहण कैसे हो ? उसे बाह्य में कहीं विशेष तन्मयता नहीं हो जाती। आत्मा की मुख्यता छूटकर सांसारिक कार्यों में कहीं विशेष-अधिक रस नहीं आ जाता। उसे आत्मा का ही प्रयोजन रहता है, ऐसी उसकी पात्रता होती है।

श्रीमद्जी में आता है न? कि विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता और जितेन्द्रियता, ये सब तत्त्व प्राप्ति के उत्तमपात्र (लक्षण) हैं। आत्मार्थी कहीं राग के प्रति आकर्षित और द्वेष में खेदखिन्न नहीं होता, सर्वत्र मध्यस्थ रहता है। उसके सब राग-द्वेष छूट नहीं जाते, किन्तु रस सब उड़ जाता है, सब मर्यादा में आ जाता है। सम्यग्दर्शन होने पर वह सबसे पृथक् हो जाता है और उसके तो सब मर्यादा में आ जाता है। ज्ञानी को अनन्तानुबन्धी का रस छूट गया है, सबसे न्यारा हो गया है और भेदज्ञान (वर्तता) है, जिसके कारण वह मर्यादा बाहर नहीं जुड़ता, उसे एकत्व नहीं होता किन्तु भिन्न ही रहता है, उसको ज्ञायकता की धारा चलती है। पात्रतावान् को भी आत्मा प्रगट करना है, इसलिए वह सर्वत्र से रस तोड़ता है और कहीं विशेष तन्मय नहीं होता। किन्हीं विकल्पों में या बाह्य कार्यों में या घर-कुटुम्ब आदि में वह विशेष तन्मय नहीं होता। 'कषाय की उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष' मात्र मुक्ति की—मोक्ष की अभिलाषा उसे रहती है। प्रत्येक कार्य में उसे आत्मा का ही प्रयोजन रहता है।

मुमुक्षु : जिसको आत्मा का प्रयोजन मुख्य है, उसको साथ ही मध्यस्थता, जितेन्द्रियता आदि सबका मेल होगा ?

बहिनश्री : उन सबका मेल होता है; जितेन्द्रियता, सरलता आदि सब होते हैं। जिसे आत्मा का प्रयोजन हो, वह अपने आन्तरिक परिणामों को समझ सकता है, इसलिए कहीं विशेष लिप्त नहीं होता, आत्मा के सिवा उसे कहीं विशेष रस नहीं आता; उसे अपना आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट रहता है। अपना आत्मा न मिले, तब तक 'मुझे कैसे आत्मा की प्राप्ति हो' ऐसी भावना रहती है; यह सब नीरस लगता है, कहीं मर्यादा के बाहर रस नहीं आता और आत्मा का ही (कार्य) करने जैसा भासता है। वह जीव सब विचार करके 'यह ज्ञानस्वभाव ही मैं हूँ' ऐसा निर्णय करता है। निर्णय किया हो, परन्तु अन्तर से यदि रुचि मन्द हो जाए तो निर्णय में अन्तर पड़ जाता है। परन्तु यदि पुरुषार्थ, आत्मा के प्रति जिज्ञासा—भावना—लगन ज्यों की त्यों हो तो निर्णय में अन्तर नहीं पड़ता। हर जगह पुरुषार्थ तो होता ही है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् साधकदशा में भी निरन्तर पुरुषार्थ होता है; तो जिसे आत्मा की रुचि हुई, उसको भी पुरुषार्थ तो साथ ही रहता है। जिसने अन्तर में निर्णय किया कि आत्मा का ही करनेयोग्य है, उसका निर्णय नहीं बदलता।

प्रश्न : श्रीमद् राजचन्द्रजी के वचनामृत में आता है कि **'दूसरा कुछ मत खोज, एक सत्पुरुष को खोजकर उसके चरणकमल में सर्व भाव अर्पण करके प्रवृत्ति करता रह, फिर यदि मोक्ष न मिले तो मुझसे लेना।'**—इसे विशेष स्पष्टता से समझाने की कृपा करें।

समाधान : जिसने तत्त्व को ग्रहण किया है, जिसने स्वानुभूति प्रगट की है, मार्ग जिन्होंने प्रगट किया है और जो मार्ग को जानते हैं, ऐसे एक सत्पुरुष को खोज; वे तुझे सब बतलायेंगे। तुझे अन्तर से कुछ समझ में नहीं आता तो सत्पुरुष को खोज और फिर वे सत्पुरुष जो कुछ कहें, उसका आशय ग्रहण कर ले।

'मोक्ष मुझसे लेना' अर्थात् तुझे मोक्ष मिलना ही है; तूने सत्पुरुष को ग्रहण किया और पहिचाना तो तुझे मार्ग मिलना ही है, मोक्ष प्रगट होना ही है। इसलिए 'मोक्ष न मिले

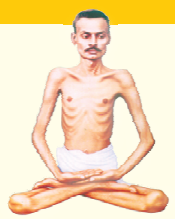

तो मुझसे लेना' उसका अर्थ है कि तुझे मोक्ष मिलनेवाला ही है।

अनन्त काल से सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ, उसे देव-शास्त्र या गुरु मिलें और अपना उपादान तैयार हो तो प्राप्त हो, ऐसा निमित्त-उपादान का सम्बन्ध है; अन्तर से देशनालब्धि प्रगट हुई हो तो अवश्य सम्यग्दर्शन प्राप्त हो। सम्यग्दर्शन होता है अपने उपादान से, परन्तु निमित्त के साथ ऐसा सम्बन्ध होता है। इसलिए तू एक सत्पुरुष को खोज, उसमें तुझे सब कुछ मिल जाएगा। तुझे सत्पुरुष मिलें और मार्ग प्राप्त हुए बिना रहे, ऐसा नहीं बनता, अवश्य मार्ग मिलता ही है; क्योंकि सत्पुरुष के प्रति तुझे भक्ति एवं अर्पणता आयी है और तूने सत्पुरुष को पहिचाना है तो तुझे आत्मा पहिचानने में आये बिना रहेगा ही नहीं।

जो भगवान को पहिचाने, वह अपने को पहिचाने और अपने को पहिचाने, वह भगवान को पहिचाने। भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को पहिचाने, वह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को पहिचाने। तू सत्पुरुष को पहिचान तो तुझे आत्मा पहिचानने में आये बिना रहेगा ही नहीं। उससे तुझे अवश्य स्वानुभूति की प्राप्ति होगी और मोक्ष भी अवश्य मिलेगा ही। अनादि काल से अपने लिये अनजाना मार्ग है, इसलिए सम्यग्दर्शन की तैयारी हो और सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन हो, तब देव या गुरु का निमित्त अवश्य होता है; इसलिए तू सत्पुरुष को खोज, ऐसा कहते हैं। तू सत्पुरुष को पहिचान तो तुझे आत्मा पहिचानने में आये बिना नहीं रहेगा, ऐसा उसका अर्थ है।

स्वयं ने सत्पुरुष को ग्रहण किया-पहिचाना कब कहने में आये ? कि आत्मा की प्राप्ति हो तब; यदि आत्मप्राप्ति न हो तो उसने सत्पुरुष को पहिचाना ही नहीं—ग्रहण किया ही नहीं और उसका आशय ग्रहण किया ही नहीं है।

प्रश्न : 'ज्ञानी के पास जाकर तू भक्ति माँगना'—(श्रीमद्जी के इस वाक्यांश) का क्या अर्थ ?

समाधान : भक्ति अर्थात् महिमा करना। (उनके पास से) मैं जान लूँ... मैं जान

लूँ, ऐसे मात्र विकल्प करते रहने की अपेक्षा तू भक्ति अर्थात् महिमा करना। सत्पुरुष की दशा की महिमा आने पर तुझे अपने आत्मा की महिमा आने का तथा अपने आत्मा की दशा प्रगट करने का अवकाश है। मैं जान लूँ.... मैं जान लूँ, ऐसे लूखे ज्ञान की माँग करने की अपेक्षा अर्थात् इसका क्या ? इसका क्या ?—ऐसा करने की अपेक्षा उनकी महिमा करना। उससे तुझे अपने चैतन्य की महिमा आयेगी, चैतन्य की ओर झुकाव होगा। बाह्य में देव-शास्त्र-गुरु की महिमा करने से अन्तर में अपने आत्मा की महिमा आने का अवकाश है। उसकी महिमा के बिना तू जो कुछ जानेगा, वह किस काम का ?

जिन्होंने आत्मा की दशा प्रगट की है तथा आत्मा की साधना की है, ऐसे गुरु की महिमा तुझे न आये तो अपने आत्मा की महिमा आने का कहाँ अवकाश है ? अपने आत्मा की महिमा न आये और मात्र जानकारी किया करे, तब भी आत्मा की ओर झुकने का अवकाश नहीं है। इसीलिए ज्ञान, महिमापूर्वक होना चाहिए। महिमा बिना का ज्ञान तेरे स्वभाव की ओर नहीं आयेगा।

अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने, वह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने। भगवान की दशा की महिमा आये, तब भगवान के आत्मा की महिमा आये और तभी निजात्मा की महिमा आये। गुरु की दशा की महिमा आये तो गुरु को पहिचाने और गुरु को पहिचाने, वह अपने को पहिचाने।

श्रीमद्जी ऐसा लिखते हैं कि **'ज्ञानी के पास ज्ञान माँगने की अपेक्षा भक्ति माँगना'**, क्योंकि उससे तुझे अपने स्वभाव की महिमा आयेगी। ज्ञान का स्वभाव क्या है ? विभाव क्या है ?—इस प्रकार से तू तत्त्व-विचार करके जानना। परन्तु मात्र जान लूँ... सीख लूँ... पढ़ लूँ... ऐसा कुछ करने से तू उसमें ही रुक जायेगा और अपनी ओर झुकने का अवकाश नहीं रहेगा। गुरु के स्वभाव की महिमा आने से तू सहज ही अन्तर में झुक जायेगा; तुझसे विभाव में टिका नहीं जा सकेगा। यदि गुरु की दशा की महिमा आयी

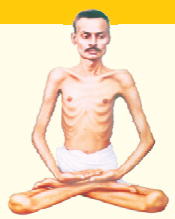

तो आत्मा की-स्वभाव की महिमा आयेगी और तब विभाव में टिका नहीं जा सकेगा; अपनी ओर जाने का प्रयत्न चलेगा। निज महिमा के बिना ज्ञान अपनी ओर नहीं आयेगा। यदि तुझे अपनी महिमा नहीं आती तो तू विभाव की महिमा में खड़ा रहेगा और स्वभाव की ओर नहीं जा सकेगा। इसलिए महिमापूर्वक ज्ञान होता है। ज्ञान, भक्ति, तत्त्वविचार आदि आत्मा की महिमापूर्वक होने चाहिए।

ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि सब हों तो अपने में ढल सकेगा। रुचि अपनी ओर की होगी। विभाव में एकत्वबुद्धि, तन्मयता होगी तो अपनी ओर ढला नहीं जाता। इसलिए उनसे तू अलग रहना; अपनी परिणति का वेग स्वभाव की ओर जाये, ऐसी अन्तरंग विरक्ति, महिमा, वैसे भव के तत्त्व के विचार करना और अपने को पहिचानकर अपनी ओर ढलना। अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, भक्ति सब साथ होंगे, तब ही अपने में ढला जा सकेगा। उसके बिना ढला नहीं जाता। ज्ञान के बिना कहाँ जायेगा? और महिमा-भक्ति के बिना अकेला ज्ञान होगा तो वह लूखा हो जायेगा। इसलिए ज्ञान, महिमा, विरक्ति के बिना अपनी ओर जाया नहीं जा सकता।

प्रश्न : परमार्थ की प्राप्ति में किसी प्रकार का आकुल-व्याकुलपना होना, उसे श्रीमद्जी ने दर्शन परीषह कहा है; तो वे क्या कहना चाहते हैं?

समाधान : परमार्थ की प्राप्ति हेतु खोटी आकुलता हो, वह दर्शन परीषह है। आत्मार्थी व्यर्थ की उतावल नहीं करता, परन्तु उसमें धैर्य चाहिए। धीरज रखे तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। आत्मा कैसे प्राप्त हो? कैसे करूँ? अब क्यों प्रगट नहीं होता?—ऐसी आकुलता हो, वह एक प्रकार का परीषह है, उसमें दर्शनमोह का निमित्त है और कार्य न होने में उपादानकारण अपना है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव किस प्रकार ग्रहण हो? राग से कैसे पृथक् होऊँ? भेदज्ञान कैसे हो? सूक्ष्म होकर प्रज्ञाछैनी से अंतर में ज्ञान को कैसे ग्रहण करूँ? इतना

समय हो गया फिर भी (कार्य) क्यों नहीं होता?—ऐसी सर्व आकुलता अन्तर में होती है, तथापि उसमें शान्ति रखे कि मेरी भावना है तो (कार्य) होगा ही। प्रयत्न करता ही रहे और धीरज से मार्ग को पहिचानने का प्रयत्न करे। आत्मा का स्वभाव क्या है? ज्ञायक क्या है? ज्ञान, वही मैं हूँ; यह सब राग है, वह मेरा स्वभाव नहीं है। वह वेदन भिन्न जाति का है और ज्ञान का जो जानने का स्वभाव है, वह दूसरी जाति है—इस प्रकार लक्षण से राग को भिन्न पहिचानता रहे और ज्ञान को ग्रहण करे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होने का कारण बनता है तथा दर्शनमोह चला जाता है। परन्तु उसे धैर्य होना चाहिए। यदि आकुलता-उतावल करे तो कार्य नहीं होता। चाहे जितना समय लगे, तथापि बारम्बार प्रयत्न करता ही रहे तो सम्यग्दर्शन—प्राप्ति का कारण बनता है। प्रारम्भ में आकुलता तो होती है, परन्तु शान्ति रखना चाहिए।

मुमुक्षु : उतावल करने जायें तो क्या अन्य उलटे-पलटे मार्ग पर चढ़ जायें?

बहिनश्री : हाँ, उतावल करने से (कार्य) नहीं होता; उलटे-पलटे मार्ग पर चढ़ जायेगा। उतावल करने जाए तो स्वभाव का ग्रहण नहीं होता; स्वभाव का ग्रहण तो धैर्य से ही होता है। स्वयं शान्ति से अन्तर में सूक्ष्म होकर ज्ञानस्वभाव को ग्रहण करे तो वह पकड़ने में आये वैसा है। उतावल करे तो कुछ का कुछ पकड़ा जाये, मिथ्या पकड़ में आ जाये और खोटा सन्तोष मान ले। कार्य नहीं होता, इसलिए (खोटी) उतावल करे तो हानिकर हो जाये।

सच्चा जिज्ञासु और सच्चा आत्मार्थी हो, उसे जब तक सच्चा परिणाम नहीं आये तब तक सन्तोष होता ही नहीं। उसका आत्मा ही कह देता है कि यह कोई अन्तर से शान्ति नहीं आती है, इसलिए यह यथार्थ नहीं है; और यथार्थ हो, उसे अन्तर से ही शान्ति आती है। उतावल करने से बुरा होता है, मिथ्या ग्रहण हो जाता है, कहीं न कहीं प्रशस्तराग में रुक जाता है। सूक्ष्म राग पकड़ में नहीं आता और अन्तर में शुभराग को पृथक् नहीं कर सकता या सूक्ष्म होकर ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सकता। बारम्बार भावना

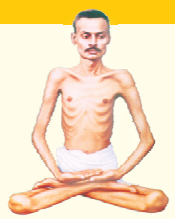

के विकल्प आयें, उनसे भी ज्ञायक पृथक् है, इस प्रकार अन्तर से यथार्थ ग्रहण होना चाहिए।—वह नहीं हो सकता हो और व्यर्थ की उतावल करके कोई परमार्थ को ग्रहण करने के लिये ध्यान करे, परन्तु ऐसे ध्यान में यथार्थ ग्रहण नहीं होता। उस ध्यान में विकल्प शान्त हो जायें, उससे ऐसा लगे कि मानो विकल्प हैं ही नहीं; परन्तु विकल्प होते हैं, तथापि वे नहीं हैं—ऐसा उतावल से मान ले तो हानिकर हो जाता है।

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो, तब तक उसे प्राप्त करने की आकुलता तो स्वाभाविक होती है; तथापि उसे दर्शन परीषह क्यों कहा ? तथा धैर्य रखने में क्या प्रमाद नहीं हो जाएगा ?

बहिनश्री : आत्मार्थी को प्रमाद नहीं होता। यह प्रमाद है या धैर्य है, वह उसे पकड़ना चाहिए। धैर्य और प्रमाद में अन्तर है। यथार्थ ग्रहण न हो, तब तक शान्ति रखे, वह प्रमाद नहीं है। यथार्थ आत्मार्थी को यथार्थ ग्रहण होता है कि यह प्रमाद है या धैर्य है ? सम्यग्दर्शन के लिये व्यर्थ की आकुलता करना, उसे अपेक्षा से दर्शन परीषह कहा है। वास्तव में तो सम्यग्दर्शन, चारित्र होने के पश्चात् सब परीषह लागू होते हैं; परन्तु यह तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, परमार्थ की प्राप्ति नहीं हुई, तथापि अपेक्षा से दर्शनपरीषह कहा है।

कोई झूठी शंका या कुतर्क करते हों, तथापि सम्यग्दृष्टि नहीं डिगता। उसे नि:शंकित गुण ऐसा प्रगट हो गया है कि स्वयं अपनी श्रद्धा से चलित नहीं होता। सारे ब्रह्माण्ड में खलबली हो जाये ऐसे (प्रसंग) अथवा चाहे जैसे अन्य परीषह आयें तथा न्याय-युक्ति आयें, तब भी स्वयं ने जिस ज्ञायकस्वभाव का ग्रहण किया है, उस ज्ञायक में नि:शंक रहता है, उसमें उसे किंचित् शंका नहीं होती। ऐसे परीषह सम्यग्दृष्टि को होते हैं।

जिसे परमार्थ की प्राप्ति नहीं हुई, उस आत्मार्थी को भी परीषह कहा है, वह अपेक्षा से है। सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता और आकुलता होती है, उस अपेक्षा से उस जाति

का परीषह कहा है। भावना यथार्थ है और प्रगट नहीं होता, उसमें (दर्शनमोह) कर्म निमित्तकारण है और कर्म में स्वयं जुड़ा हुआ है। इस प्रकार स्वयं ग्रहण करना चाहता है और ग्रहण नहीं होता, इसलिए उसे दर्शनपरीषह कहा है। कोई विकल्प—कोई शंकाएँ—कोई तर्क बीच-बीच में अपने को रोकते हों, वे सभी अन्तरंग परीषह हैं। स्वरूप निर्णय करे, वहाँ बीच में कोई शंकाएँ उत्पन्न हों, शंका में भी कोई शंका पैदा हो जाये, इस प्रकार परमार्थ को ग्रहण करने में भीतर अपने परिणाम में अनेक प्रकार की कठिनाईयाँ खड़ी हों, उन्हें दर्शनपरीषह कहा है। तथापि वह धीरज से उन सबमें से पार होकर स्वयं नि:शंकपने चैतन्य को ग्रहण करे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होने का कारण बनता है।

मुमुक्षु : स्वभाव प्राप्ति की भी बहुत आकुलता करने जैसी नहीं ?

बहिनश्री : बहुत आकुलता करने से उसे धैर्य नहीं रहता (धैर्य खो बैठता है) जिससे कहीं न कहीं शान्ति मान ले, ऐसा हो जाता है। 'यह ज्ञाता ही है' ऐसा सहजरूप से ज्ञायक को ग्रहण करने के बदले उतावल से कृत्रिमता होने पर ध्यान करने बैठे, तब उसे ऐसा लगता है कि विकल्प मुझे दिखायी ही नहीं देते; अब मुझे सम्यक्त्व हो गया है; अर्थात् अयथार्थरूप से मान ले, ऐसा हो जाता है। मेरे विकल्प शान्त हो गये हैं, ऐसा भ्रम उतावल के कारण हो जाता है।

जिसे गुरुदेव ने तथा शास्त्रों ने ज्ञायक कहा है, वह ज्ञायक ही मैं हूँ, अन्य कोई मैं हूँ ही नहीं, इस प्रकार जिसे अन्तर से सहजरूप से ग्रहण होता है, उसका हृदय ही—उसका आत्मा ही—नि:शंकरूप से तथा सहजरूप से भीतर से कह रहा होता है कि यही मार्ग है, अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। उसे किसी से पूछने नहीं जाना पड़ता, परन्तु उसका हृदय ही सहजरूप से कह रहा होता है कि यही ज्ञायक है, यही स्वानुभूति है और यही भगवान का तथा गुरु का कहा हुआ मार्ग है, ऐसा उसको अन्तर से सहजरूप से आता है, किसी से पूछकर निर्णय हो, ऐसा नहीं होता। अन्तर से उसकी दृढ़ता कोई अलग ही प्रकार की आती है।

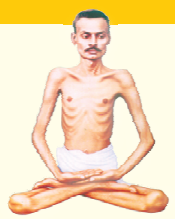

मुमुक्षु : इसमें बहुत समझने जैसा है।

बहिनश्री : कई लोग ध्यान करने बैठें और उन्हें उसमें प्रकाश जैसा दिखायी दे तथा कुछ शान्ति लगे, तो कहते हैं कि ध्यान हो गया। ऐसी तरह-तरह की कल्पनाएँ होती हैं; परन्तु उसमें बाहर का देखने का कुछ भी नहीं है क्योंकि स्वयं ही है। अन्तर की शान्ति प्रगट हो और विकल्प से भिन्न पड़े, वह उसका आत्मा ही उससे कह देता है, स्वानुभूति ही कह देती है। अन्तर से न्यारे हुए आत्मा की नि:शंकता एवं दृढ़ता कोई अलग ही आती है। अन्तर एकाग्रतापूर्वक अपना अस्तित्व ग्रहण हुए बिना और विभाव की ओर की नास्ति हुए बिना अर्थात् भेदज्ञान हुए बिना यों ही सच्चा ध्यान हो नहीं सकता; मात्र उसके विकल्प डाँवाडोल हों, वे शान्त हो जाते हैं, कम हो जाते हैं। अन्तर से पृथक् होकर स्वभाव की अस्ति ग्रहण करे और विभाव का भेदज्ञान हो अर्थात् द्रव्य पर दृष्टि जाये और उसके साथ भेदज्ञान हो—दोनों साथ हों, तो ध्यान की एकाग्रता सच्ची होती है। अपने स्वभाव का अस्तित्व ग्रहण करने से उसका ध्यान, उसकी लीनता, और उस ओर ढलना होता है। भीतर उपयोग को स्वसन्मुख करे तो उसके विकल्प शान्त होते हैं। उसका मार्ग एक भेदज्ञान है और वह द्रव्य पर दृष्टि करे तथा विभाव से नास्ति हो तो होता है।

प्रश्न : भक्तिमार्ग क्या दूसरा है ? या ज्ञानमार्ग में अभेद भक्ति आ जाती है ?

समाधान : यथार्थ समझ की ओर ढले, तब साथ में भक्ति आये बिना नहीं रहती। यथार्थ तत्त्वनिर्णय करने की रुचि जागृत हुई, उसे भक्ति साथ में आ जाती है। परन्तु अनादि काल से जीव शुष्कता में चला जाता है। **श्रीमद् राजचन्द्रजी तथा अन्य सर्व ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि तत्त्वनिर्णयपूर्वक भक्ति करना, वह भक्तिमार्ग है।** तत्त्वविचार की ओर परिणति रखकर भक्ति करना—ऐसा भक्तिमार्ग में कहना है।

ज्ञानमार्ग में जीव अनेक बार शुष्क हो जाते हैं, इसलिए भक्तिमार्ग साथ ही बताया है; परन्तु अन्तर परिणति में ज्ञान मुख्य है। उसमें भक्ति साथ में होती है; भक्ति न हो तो ज्ञान रूखा हो जाता है।

आत्मा स्वयं महिमावन्त है, उसकी महिमा करना। देव-शास्त्र-गुरु की महिमा करना, महिमा नहीं होगी तो तेरे विचार आदि सब शुष्क हो जायेंगे। यदि तुझे महिमा न आये तो मात्र तू ज्ञान की बातें करता रहेगा किन्तु अन्तर में रूखापन हो जायेगा। महिमा साथ होगी तो अन्तर में तुझे ऐसा लगेगा कि अहो! आत्मा ऐसा चमत्कारी है। अहो! ऐसे आत्मा की साधना देव-गुरु कर रहे हैं—ऐसा आश्चर्य तुझे अन्तर से लगना चाहिए, तब तेरे तत्त्वविचार भी यथार्थरूप से चलेंगे। ऐसा भक्तिमार्ग में कहना है।

ज्ञान अकेला रूखा नहीं होना चाहिए, साथ ही भक्ति, विरक्ति एवं तत्त्वविचारादि सब होने चाहिए। वे सब हों तो मुमुक्षु मर्यादा के बाहर नहीं जाता; अमुक प्रकार के परिणाम आते हैं फिर भी (मुमुक्षु) मर्यादा बाहर नहीं जाता। लूखा हो तो परिणाम मर्यादा के बाहर जाते हैं। यह चैतन्य ऐसा महिमावन्त है कि, विभाव में रुकने जैसा नहीं है, ऐसे भावना होती है। देव-गुरु कैसा कर रहे हैं!—ऐसे महिमा करके भी परिणति को आत्मा की ओर ज्यादा झुकाता है; नहीं तो शुष्कता हो जाये और मर्यादा के बाहर चला जाये।

प्रश्न : श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि अपने मन से किये गये स्वरूप के निश्चय की अपेक्षा जो ज्ञानी कहते हैं, वह निश्चय मानने में कल्याण है।

समाधान : यथार्थ स्वरूप को समझकर ज्ञानी के द्वारा किया हुआ निश्चय यथार्थ है। अपने मन से किये गये निश्चय में भूल होती है और वह कल्पित होता है। मुझे ऐसे ठीक लगता है; परन्तु ज्ञानी के कहने का क्या आशय है? ज्ञानी को-गुरु को क्या कहना है, उसका रहस्य क्या है?—उसे विचार करके, मिलान करके, स्वयं निर्णय करना चाहिए। अपनी कल्पना से निर्णय करे तो भूल होने का अवकाश है। क्योंकि वह स्वयं के स्वच्छन्द से किया हुआ निर्णय है। अनन्त काल से अनजाना मार्ग है; तू स्वयं कुछ समझता नहीं है; इसलिए अपने आप निर्णय करे कि 'वस्तु ऐसी है, मार्ग यह है, मुक्ति का पन्थ इस प्रकार है', तो उसमें भूल हो जाती है। ज्ञानी ने जो निर्णीत किया हो, गुरु ने

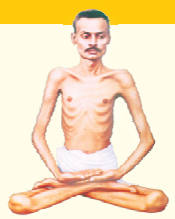

जो कहा हो, सो बराबर ही है। अब किस प्रकार प्रवर्तना, वह अपने आप विचार करके स्वयं निश्चित करे। ज्ञानी ने जो कहा हो, उसका रहस्य और आशय समझे तो वह यथार्थ है; नहीं तो कल्पित है। अपने आप किये गये निश्चय में भूल होती है।

ज्ञानी के कथन में अनेक आशय एवं गम्भीरता भरी होती है; क्योंकि वह निश्चय यथार्थ होता है। द्रव्य का स्वरूप, निश्चय का स्वरूप, व्यवहार का स्वरूप, निमित्त-उपादान का स्वरूप जो गुरु ने कहा हो, तद्नुसार विचार करके निर्णय करे तो वह बराबर है।

अपनी मति-कल्पना से शास्त्र पढ़े तो शास्त्र (मर्म) समझ में नहीं आता। उसमें अपनी भूल होती है और कहीं न कहीं स्वयं रुकता है। अपनी इच्छानुसार मति-कल्पना से अर्थ करता है।

जिसे आत्मार्थिता हो, वह गुरु द्वारा कहे हुए रहस्य के अनुसार निर्णय करता है कि यह बराबर है। वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है। स्वयं यथार्थ मार्ग ग्रहण करके, निश्चय करता है कि वस्तुस्वरूप इसी प्रकार ही है। निश्चय-व्यवहार का स्वरूप किस प्रकार कहा है, उसका मिलान करके, यथार्थ निश्चय करता है।

प्रश्न : श्रीमद् राजचन्द्रजी ने अनेक जगह लिखा है कि जीव को आत्मप्राप्ति नहीं होने में मूल कारण उसकी स्वच्छन्दता है। तो स्वच्छन्दता कहने का तात्पर्य क्या है ?

समाधान : स्वच्छन्दी जीव अपनी मति-कल्पना से मार्ग का निर्णय कर लेता है कि मार्ग इसी प्रकार है, मैं जो मानता हूँ, वही सच्चा है। अथवा बहुत से शास्त्रों का अभ्यास किया हो तो शास्त्र में इस प्रकार आता है—आत्मा ऐसा है—वैसा अपनी मति से जो निर्णय किया हो, वहीं का वहीं स्वच्छन्दवृत्ति से अटक जाता है अथवा अन्यत्र कहीं भी अटकता हो, परन्तु उसे किसी से पूछने का नहीं रहता, क्योंकि 'मैं सब जानता हूँ, मुझे सब आता है' ऐसा उसे हो जाता है।

जिन्होंने मार्ग को जाना है, वैसे अनुभूतिवान् ज्ञानी क्या कहते हैं, वह विचारने का

उसे अवकाश नहीं रहता और जिसे मति-कल्पना नहीं हो, उसे अवकाश रहता है कि विशेष ज्ञानी कौन हैं और वे क्या कहते हैं ?

गौतमस्वामी-इन्द्रभूति वेदान्तवादी थे। इन्द्र ने आकर उनकी परीक्षा की, तब उनकी इतनी तैयारी थी कि 'यह क्या कह रहे हैं ?' उन्हें आश्चर्य लगा कि मुझे इतना सब आने पर भी यह तो मैं नहीं जानता ! यह जो प्रश्न पूछ रहे हैं कि द्रव्य कितने... (इत्यादि) वह मुझे कुछ क्यों नहीं आता ? मैं तो ऐसा मानता था कि मैं सर्वज्ञ हूँ... ऐसे आश्चर्य लगा, जिससे वहाँ (भगवान के पास) जाने को तत्पर हुआ। अन्तर में इतनी योग्यता हुई कि 'मैं नहीं जानता', तो वहाँ जाने का अवकाश रहा। परन्तु 'मैं सब कुछ जानता हूँ' वैसे मानता हो, उसे कोई अवकाश नहीं रहता।

प्रश्न : श्रीमद्जी ने एक जगह लिखा है कि ज्ञानी पुरुष की अपेक्षा यदि जीव को परिग्रह के प्रति विशेष प्रेम हो तो वास्तव में वह आत्मा को समझने या प्राप्त करनेयोग्य नहीं है, तो उसका क्या अर्थ है ?

समाधान : जिन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई है, ऐसे ज्ञानी की अपेक्षा जिसे परिग्रह के प्रति प्रेम अर्थात् कि बाहर का रस बढ़ जाये अर्थात् परिग्रह की महिमा लगे और ज्ञानी के प्रति महिमा न आये तो वह वास्तव में पात्र नहीं है। उसे परिग्रह गौण हो जाना चाहिए, बाहर का रस उतर जाना चाहिए तो ज्ञानी की महिमा आये।

उसे ज्ञान चाहिए, इसलिए उसके ज्ञान में आत्मा तरफ की महिमा आनी चाहिए। 'ज्ञानी के प्रति की महिमा अर्थात् अन्तर में आत्मा के प्रति महिमा' ऐसा उसका अर्थ निकलता है। इसलिए इस प्रकार की महिमा हो और परिग्रह की गौणता हो जाए, तभी उसे ज्ञानी के प्रति अर्पणता और आत्मा के प्रति महिमा आती है।—दोनों का मेल है।

मुमुक्षु : क्या ज्ञानी और आत्मा की महिमा को मेल है ?

बहिनश्री : हाँ, दोनों को मेल है। ज्ञानी की महिमा करता है, उसका अर्थ यह है कि उसे आत्मा चाहिए। उसे अन्तर में आत्म 'प्राप्ति' का ध्येय है।

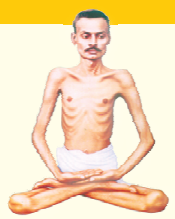

प्रश्न : श्रीमद्‌जी ने कहा है कि—**'दूसरा कुछ मत खोज, मात्र एक सत्पुरुश को खोजकर उसके चरणकमल में सर्वभाव अर्पण कर दे।'** तो सर्वभाव का अर्थ क्या सर्वार्पणता है ?

समाधान : हाँ, सर्व प्रकार की अर्पणता। गुरु जो कहते हैं, उसके प्रति पूर्ण अर्पणता, उसमें अपनी कल्पना और चतुराई बिल्कुल नहीं। गुरु जो कहते हैं, वह सब मान्य है; किन्तु वह मेरी समझ में नहीं आता—इस प्रकार स्वयं समझने का प्रयत्न करे। किन्तु गुरु जो कहते हैं, वही बराबर है। मेरी अपनी कचास है।

श्रीमद्‌जी तो यहाँ तक कहते हैं कि—**'गुरु को सर्व भाव अर्पण करके प्रवृत्ति करता रह। फिर यदि मोक्ष न मिले तो मुझसे लेना;'** उसका अर्थ है कि तुझे मोक्ष की प्राप्ति होगी ही।

प्रश्न : श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—**'सर्व भाव से विराम की प्राप्तिरूप संयम, वह द्रव्यानुयोग परिणति होने का मूल है, यह किसी भी काल में भूलना नहीं।'** वहाँ क्या तात्पर्य है ?

समाधान : जिसको द्रव्यानुयोग का यथार्थ परिणमन हो गया है, उसे संयम अनुक्रम से आ ही जाता है। उसको स्वरूपरमणता होकर चारित्र प्रगट होता है। मुमुक्षु दशा में उसे अमुक प्रकार से बाह्य रुचि छूट जाती है, वैराग्य आ जाता है।

प्रश्न : मार्ग की शुरुआत ही कठिन है या सारा मार्ग ही ऐसा पुरुषार्थ अपेक्षित है ?

समाधान : श्रीमद्‌जी ने कहा है कि—प्रथम भूमिका विकट होती है। अनादि से एकत्वबुद्धि गाढ़ हो रही है; उसमें से पार होना उसे विकट लगता है। पीछे तो उसे मार्ग सहज और सुगम है। अपने सहज स्वभाव को जिसने पहिचाना और स्वभाव प्रगट हुआ, उसे फिर मार्ग सहज और सुगम है। प्रथम भूमिका जितनी कठिन होती है, वैसी प्रत्येक भूमिका कठिन नहीं होती। पुरुषार्थ की धारा तो सबमें चालू ही रखनी पड़ती है, परन्तु प्रथम भूमिका विकट होती है।

प्रश्न : देव-शास्त्र-गुरु का अवलम्बन किंचित् आधाररूप होता है ?

समाधान : चेतन द्रव्य का ही अवलम्बन है। शुभभाव में देव-शास्त्र-गुरु का आलम्बन कहा जाता है कि हे देव-शास्त्र-गुरु! आप मेरे साथ रहना; क्योंकि मेरी अपूर्णता है, इसलिए मुझे शुभभाव आते हैं तो आप मेरे साथ रहना, मुझे आपके प्रति आदर है। भक्ति में आता है कि जैसे मुझे अपने स्वभाव का आदर है, वैसे ही आपके प्रति मुझे आदरभाव है, इसलिए आप मेरे साथ रहना। मैं जहाँ भी जाऊँ, वहाँ मुझे मेरे साथी की भाँति सहायरूप देव-शास्त्र-गुरु साथ रहें, ऐसी भावना भाता है। वैसे तो अवलम्बन द्रव्य का है और कार्य स्वयं को करने का है। परन्तु देव-शास्त्र-गुरु के प्रति पूर्ण भक्ति आती है। आप मेरे साथ रहना, ऐसा भावना में आये, परन्तु उसे भावना में ऐसा नहीं आता कि आप सब तो बाह्य पदार्थ हैं और करने का तो मुझे अन्तर में है न ?—ऐसे भाव नहीं आते। शुभभाव में खड़ा है, अभी पूर्ण वीतराग नहीं हुआ है, इसलिए ऐसे भाव आते हैं कि आप मेरी साधना में मेरे साथ रहना। पूज्य गुरुदेव मुझे सहायक हैं, मुझे उपदेश दें, ऐसी भावना होती है। मैं पूज्य गुरुदेव के प्रताप से ही आगे बढ़ा हूँ। पूज्य गुरुदेव ने ही सर्वस्व दिया है।—इस भाँति देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्तिभाव आये बिना नहीं रहता। पुरुषार्थ तो स्वयं करता है, परन्तु उपकार देव-शास्त्र-गुरु का आये बगैर नहीं रहता; क्योंकि अनादि काल के अनजाने मार्ग को गुरुदेव ने ही तो दिखलाया है न! द्रव्य अनादि-अनन्त शुद्ध होने पर भी परिणति को पलटाने में जो पुरुषार्थ होता है, उसमें देव-शास्त्र-गुरु निमित्तरूप से मौजूद रहते हैं। अनादि का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा है कि अनादि से जिसे स्वयं नहीं समझ पाया, उसे पहली बार समझे, तब वहाँ देशनालब्धि अवश्य होती है और उसमें देव या गुरु का प्रत्यक्ष निमित्तत्व होता है। कार्य अपने से होता है, परन्तु उपादान-निमित्त का सम्बन्ध रहता है। अनादि मिथ्यादृष्टि को जब प्रथम देशनालब्धि प्राप्त होती है, तब उस समय देव अथवा ज्ञानी गुरु प्रत्यक्ष निमित्त होते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष का उपकार कहने में आता है।

'प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं' यह बात श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कही है। प्रत्यक्ष का

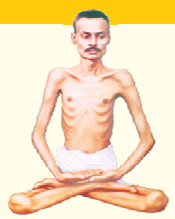

उपकार है। अनादि से स्वयं चैतन्यद्रव्य शुद्ध होने पर भी, जब उसकी पर्याय पलटने का पुरुषार्थ होता है, तब देव-गुरु का निमित्त होता है। ऐसा निमित्त-उपादान का सम्बन्ध होता है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र होने पर भी ऐसा निमित्त-उपादान का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार पर्याय में निमित्त-नैमित्तिक का कैसा सम्बन्ध है, उसे ज्ञान में रखकर, दृष्टि अपने द्रव्य पर होती है। जैसे ज्ञाननय और क्रियानय की मैत्री है, वैसे ही दृष्टि और ज्ञान भी मैत्रीपूर्वक कार्य करते हैं।

प्रश्न : किसी भी 'पर्याय की योग्यता' लेने में प्रमाद आये ऐसा लगता है, तो 'पुरुषार्थ की त्रुटि' लेना बराबर है ?

समाधान : (एकान्त से) योग्यता लेने में प्रमाद आ जाता है। 'जो होना होगा, वह होगा', 'उसकी ऐसी योग्यता'—ऐसे बचाव की ओर का पक्ष लेने में तो जीव को जरा भी देर नहीं लगती। कार्य न हो तो बचाव का पक्ष एकदम आ जाता है। परन्तु पुरुषार्थ की ओर जाए तो उसे खटक रहे कि यह मुझे ही करना है, मैं अपने प्रमाद के कारण ही रुका हुआ हूँ, प्रमाद है; इसीलिए आगे नहीं बढ़ पाता, इतनी लगनी नहीं लगी है, इसलिए आगे नहीं बढ़ पाता। श्रीमद्जी ने कहा है न ? कि जीव को अटकने के अनेक स्थान होते हैं; जीव चाहे जहाँ अटक जाता है।

मुमुक्षु : मेरे प्रमाद से ऐसा हुआ है और मैं पुरुषार्थ नहीं कर सकता, ऐसा स्वीकारने से तो आकुलता बढ़ जाए, ऐसा न बने ?

बहिनश्री : वह सब आत्मार्थी को देखना है। यदि आकुलता बढ़ जाए और विशेष उलझन में पड़ जाए, तब भी मार्ग नहीं मिलता। मार्ग में शान्ति से धैर्यपूर्वक आगे बढ़ा जाता है। मुझे प्रमाद है या शान्ति है या धैर्य है अथवा क्या है ?—वह सब स्वयं विचारना है। अकुलाने से मार्ग नहीं मिलता; इसलिए शान्ति से तथा धैर्यपूर्वक स्वयं मार्ग निकाले। अपनी योग्यता कैसी है, वह समझकर आगे बढ़ना। पुरुषार्थ नहीं चलता हो अथवा कहीं-कहीं अटकता हो, वहाँ पुरुषार्थ करे और यदि उलझन रहती हो तो शान्ति रखना, धीरज रखना।

प्रश्न : श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि **'जिसे ज्ञानी के प्रति परमात्मबुद्धि आती है, उसे सर्व मुमुक्षुओं के प्रति दासत्वभाव आता है।'** तो वहाँ वे क्या कहना चाहते हैं ?

समाधान : सत्पुरुष जो कि सर्वोत्कृश्ट मार्ग बतला रहे हैं और साधना कर रहे हैं, उनके प्रति मुमुक्षु को परमेश्वरबुद्धि आती है। अर्थात् 'वे ही मुझे सर्वस्व हैं' ऐसा वह मानता है, जिससे उसे अन्य मुमुक्षु जीवों के प्रति दासत्वपना अर्थात् गुणग्राही दृष्टि हो जाती है। वह किसी के दोष नहीं देखता, किन्तु उसे सबका दासत्व अर्थात् 'मैं किसी से ऊँचा हूँ' ऐसी दृष्टि नहीं है, परन्तु नम्रता का भाव आ जाता है।

आत्मार्थिता का लक्षण है कि मैं किसी से ऊँचा हूँ, ऐसा विचार छूट जाए और सबका दासत्व आ जाए। उसे इतनी अधिक नम्रता आ जाती है कि अपना अहंपना और कठोरता छूट जाती है। किन्तु उसे परीक्षाबुद्धि होती है। जहाँ सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हों, वहीं उसकी अर्पणता होती है; परन्तु जो सत्य नहीं समझते हों, जिनकी विपरीतबुद्धि तथा मिथ्या आग्रह हो, उनके प्रति दासत्व नहीं होता; तथापि स्वयं को कहीं अभिमान नहीं होता और न कहीं अभिमानपूर्वक वर्तता है, ऐसा दासत्व होता है। वह ऐसा मान नहीं रखता कि मुझमें कितनी विशेषता है अर्थात् मैं बड़ा हूँ, ऐसा उसका मान छूट जाता है; जिससे अपने को हानि हो, वैसा अहंपना छूट जाता है। कोई मिथ्या आग्रही हों अथवा कुदेव-कुगुरु हों, उन सबको यथावत् जानता है, परन्तु स्वयं अहंभाव नहीं रखता। उसे सर्वत्र विवेक वर्तता है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वह सब जगह नमस्कार करता है। फिर भी उसको अहंभाव छूट जाता है। मुझमें यह गुण तो है न ?—ऐसा अहंभाव उसको नहीं होता, किन्तु मुझे अभी बहुत करना बाकी है, ऐसी विनम्रता होती है। द्रव्य अपेक्षा से सिद्ध भगवान समान हूँ, परन्तु पर्याय में पामर हूँ, ऐसी विनम्रता अन्तर में आ जाती है।—यह दासत्व का अर्थ है। मैं पर्याय में पामर हूँ, मेरी पर्याय में बहुत अपूर्णता है, मुझे बहुत करना है, ऐसी नम्रता होती है; परन्तु मैंने यह कर लिया है और मुझमें यह है, ऐसा अहंभाव नहीं होता।

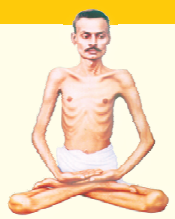

दासत्व का ऐसा अर्थ नहीं है कि सबका दास हो जाना और सबको नमस्कार करना। दूसरों के दोष देखने की अपेक्षा अपने दोष देखना कि मैं पर्याय में पामर हूँ; वह आत्मार्थी का लक्षण है। दूसरों को दोषबुद्धि से देखने की अपेक्षा तू स्वयं अपने में कहाँ अटका हुआ है और तुझमें क्या त्रुटि है, उसे तू देख। दूसरों के दोष देखने में नहीं अटकना। 'जगत को अच्छा दिखाने का प्रयत्न किया, परन्तु तू स्वयं अच्छा नहीं हुआ' ऐसा श्रीमद्जी ने कहा है। जगत को अच्छा दिखाने का प्रयत्न किया परन्तु तू स्वयं अन्तर से अच्छा हुआ है या नहीं ?—वह तुझे अन्तर में देखना है। तुझे स्वयं अन्तर में गुण प्रगट करने हैं, अन्तरंग शुद्धि करनी है। द्रव्य को पहिचानकर अन्तर से जिज्ञासा एवं लगन लगन लगाकर आत्मा की ओर तेरा झुकाव कितना होता है, उसकी—उपादान की तैयारी करनी है। **श्रीमद्जी के इस वाक्य में गूढ़ता भरी है। गुरुदेव के प्रताप से स्पष्टता हुई है। गुरुदेव ने समयसारादि शास्त्रों के तथा आत्मा के-वस्तुस्वरूप के रहस्य खोले हैं। श्रीमद्जी के कथन के रहस्य भी गुरुदेव ने ही खोले हैं। गुरुदेव ने सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूप से सब रहस्य खोले हैं, जिससे सब कुछ स्पष्ट हो गया है।** ●●

(स्वानुभूति दर्शन से संकलित)